# आज़ादी की कहानी

# आज़ादी की कहानी

डॉ. विजय अग्रवाल

# कहाँ क्या है

# इस किताब के बारे में

शुरुआत इस महत्वपूर्ण बात से करता हूँ कि यह किताब 'स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास' कम, उसकी कहानी अधिक है। आखिर मैं ऐसा क्यों कह रहा हूँ? इसे जानना जरूरी है।

दरअसल, यह पुस्तक सिविल सिर्विस की परीक्षा में बैठने वाले उन नौजवानों की जरूरत को ध्यान में रखकर तैयार की गई है, जो अपने अन्दर हमारे स्वतंत्रता आंदोलन की एक ठोस और स्पष्ट समझ विकसित करना चाहते हैं। इसके लिए मुझे जरूरी लगा कि मैं इतिहास लेखन की बौद्धिक शैली से हटकर कहानी कहने या कथा सुनाने की उस परम्परागत शैली को पकड़ू, जो बचपन से ही हमें अपनी-अपनी घुट्टियों में मिली हुई है। इससे इतिहास, जिसे ज्यादातर लोग एक नीरस विषय मानते है, जिनमें मैं शामिल नहीं हूँ, अपने एक रोचक रूप में सामने आ सकेगा। किसी भी विषय पर अपनी पकड़ मजबूत बनाने की पहली सीढ़ी यही होती है कि उस विषय में मजा आना चाहिए। यदि यह है, तो आगे की सीढ़िया अपने आप उभरती चली जाती हैं।

सिविल सर्विस की परीक्षा, खासकर आई.ए.एस. की परीक्षा में बैठने वाले विद्यार्थी इस जरूरत को बहुत अच्छी तरह समझते हैं कि सन् 2013 से मुख्य परीक्षा के सामान्य अध्ययन के प्रश्नों के स्वरूप में जो बदलाव आया है, अब वहाँ रट्टूपने की भूमिका नहीं रह गई है। आप विषय के मूल को समझ लीजिए, और उस मूल के आधार पर विश्लेषण करने की क्षमता विकसित कर लीजिए, किला फतह कर लेंगे। इस पुस्तक का नज़रिया यही है।

इसलिए यदि आप इस पुस्तक में स्वतंत्रता आंदोलन की छोटी-छोटी घटनाओं के ब्यौरे, काल-क्रमों के विवरण तथा स्थान एवं व्यक्तियों के नामों की सूचियां ढूँढने की कोशिश करेंगे, तो मुझे अफसोस है कि मैं आपको निराश ही करूंगा। लेकिन यदि आप इतिहास की इन मूलभुलैया वाली पगडंडियों को छोड़ने की हिम्मत दिखाते हुए इसके राजमार्ग के राही बनने को उत्सुक हैं, तो आप मेरी उंगली थाम सकते हैं। मुझे लगता है कि यह उंगली आपको आपकी मंजिल तक पहुँचाने में बेहद मददगार साबित होगी।

मेरे नौजवान दोस्तो, अंत में कुल मिलाकर मैं आपसे यही कहना चाहूंगा कि विषय चाहे कोई भी हो, आपका एकमात्र प्रयास यही होना चाहिए कि आप उस विषय के मूल को समझें, उस पर विचार करें, और बार-बार विचार कर-करके उस पर अपने विचार बनायें। अब आईएएस की परीक्षा आपसे इसी तरह की योग्यता की अपेक्षा कर रही है, जो पूरी तरह सही भी है। जहाँ तक स्वतंत्रता आंदोलन पर आपकी तैयारी का सवाल है, निश्चित ही यह पुस्तक आपके लिए उपयोगी होनी चाहिए, क्योंकि मैंने इसे आपकी इसी विशेष आवश्यकता को ध्यान में रखकर लिखा है।

आप इसे पढ़ें, समझें और फिर उस मजबूत नींव पर अपने ज्ञान का वर्द्धन करें। मेरी शुभकामनाए आपके साथ हैं।

**डॉ. विजय अग्रवाल**
**भोपाल**
**website- www.afeias.com**
**www.vijayagrawal.com**
**Email- vkagrawal57@gmail.com**

अध्याय 1

# गुलामी की शुरुआत

भारत की गणना विश्व की प्राचीन संस्कृतियों वाले देशों में होती है। अन्य देशों की तरह भारत में भी नदियों के किनारे मानवीय संस्कृति फली और फूली। चूँकि नदियों में पानी होता था, पशुओं के चारे के लिए घास और वनस्पतियाँ मिल जाती थीं और फसलों की सिंचाई की व्यवस्था हो जाती थी। इसलिए विश्व की प्राचीनतम् संस्कृतियों का विकास नदी घाटियों में ही हुआ है।

भारत में सबसे पहले सिन्धु घाटी की सभ्यता रही। पंजाब, हरियाणा और राजस्थान के क्षेत्रों में यह संस्कृति विकसित हुई। खुदाई से इस बात के प्रमाण मिले हैं कि यह संस्कृति अत्यंत उन्नत थी। यह एक प्रकार से नगरीय संस्कृति थी। बाद में गंगा नदी के मैदान में वैदिक संस्कृति का विकास हुआ। इसी युग में वेदों की रचना की गई। यह युग आध्यात्मिक चिंतन की दृष्टि से महान युग माना जाता है।

इसके बाद से ही हमारे देश में अलग-अलग कबीलों एवं समुदायों के राज्य स्थापित होने लगे। इसके परिणामस्वरूप कुछ ऐसे शासक हुए, जिनका साम्राज्य-विस्तार बहुत अधिक था। सम्राट अशोक, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य और हर्षवर्धन ऐसे ही सम्राट थे।

इस बीच विदेशों से भी छोटे-मोटे आक्रमण होते रहते थे। हमारे यहाँ शक शासक आए, हूण आए और कुषाण आए, लेकिन इन शासकों की एक विशेष बात यह रही कि इन्होंने भारत पर आक्रमण किया, यहाँ के राजाओं को पराजित किया, किन्तु विजयी होने के बाद भारत में ही बस गए और

अपने आपको यहीं की संस्कृति में रचा लिया। इन विदेशी शासकों ने भारत में आकर भारत की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक गतिविधियों से कोई विशेष छेड़खानी नहीं की। इसलिए देश की जनता को भी इनसे कोई विशेष शिकायत नहीं रही।

## विदेशी थे, देशी हो गए

दसवीं शताब्दी के बाद से हमारे देश पर उत्तर, पश्चिम और मध्य एशिया के क्षेत्रों से आक्रमण होने लगे। इनमें खासकर अफगानिस्तान और तुर्की के आक्रमणकारी शामिल थे। ऐसे शासकों में कुछ तो धन की लूटपाट के लिए आक्रमण करते थे। वे भारत में आते और युद्ध के बाद लूटपाट मचाकर इकट्ठे धन को पशुओं पर लादकर अपने देश चले जाते। लेकिन बाद में कुछ ऐसे शासक हुए, जिन्होंने विजयी होने के बाद भारत को ही अपना घर बना लिया। इन शासकों के साथ ही भारत के इतिहास में एक नये युग की शुरुआत हुई, जिसे 'भारतीय इतिहास का मध्यकाल' कहा जाता है। यह काल इल्तुतमिस से शुरू होकर मुख्य रूप से औरंगज़ेब तक चलता रहा।

इस काल की मुख्य विशेषता यह रही कि दो भिन्न धर्म के लोग एक-दूसरे के सम्पर्क में आए। ये थे- हिन्दू धर्म और मुस्लिम धर्म। इस सम्पर्क का प्रभाव दोनों धर्मों पर पड़ा। दोनों ने एक-दूसरे से बहुत कुछ ग्रहण किया और इस प्रकार हमारे देश में एक नई मिली-जुली संस्कृति विकसित हुई। इस मिली-जुली संस्कृति का प्रभाव भारत के चिन्तन, धर्म, रीति-रिवाज़, परम्पराओं तथा कला एवं साहित्य पर पर्याप्त रूप से पड़ा। यह कहना गलत नहीं होगा कि इन दोनों के समन्वय से भारतीय संस्कृति और कला समृद्ध हुई। इसका क्षितिज व्यापक हुआ।

इस काल के शासकों के बारे में भी एक महत्त्वपूर्ण बात यह कही जा सकती है कि इन्होंने भी पूर्ववर्ती विदेशी शासकों की तरह भारत को ही अपना निवास बनाया। इन्होंने भी चूँकि भारत की मूल व्यवस्था से कोई

विशेष छेड़खानी नहीं की, इसलिए आम लोगों में इनके प्रति कोई विशेष विद्रोह नहीं रहा।

## उन्हें सिर्फ पैसों से मतलब था

ठीक इसके बाद से ही शुरू होता है सही मायनों में भारत की दासता का युग। सन् 1600 ई. के अंत में इंग्लैण्ड की ईस्ट इंडिया कंपनी के भारत में प्रवेश के साथ ही भारत की गुलामी की कहानी शुरू हो गई थी। यह कम्पनी व्यापारियों की थी। इसका मुख्य उद्देश्य भारत के साथ व्यापार करके अधिक से अधिक धन कमाना था। इंग्लैण्ड के साथ पुर्तगाल, फ्रांस और हॉलैण्ड के व्यापारी भी भारत आए थे और उन्होंने भी भारत के कुछ बड़े शहरों में अपनी बस्तियाँ बसाई थीं। शुरू में इनका उद्देश्य व्यापार करने के साथ-साथ ईसाई धर्म का प्रचार करना भी था। चूँकि इसे कुछ भारतीयों ने अपने धर्म में हस्तक्षेप माना, इसलिए इन यूरोपियों के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त किया। पुर्तगाली व्यापारी तो इसी कारण बहुत जल्दी भारत में अलोकप्रिय हो गए। हाँ, फ्रांस की शक्ति बढ़ती चली गई। हॉलैण्ड कुछ विशेष नहीं फल-फूल सका।

भारत में यूरोप की मुख्य रूप से ये चार शक्तियाँ थीं। ये चारों देश जहाँ एक ओर भारत के मुख्य स्थानीय शासकों से लड़ते रहे, वहीं दूसरी ओर ये आपस में भी लड़ते रहे। इन चारों देशों की आपस की लड़ाई का मुख्य उद्देश्य भारत में उन क्षेत्रों पर अपना अधिकार करना था, जहाँ से ये अधिक से अधिक व्यापारिक लाभ उठा सकें। इस समय इंग्लैण्ड की सामुदायिक शक्ति काफी अधिक थी। चूँकि यूरोपीय देशों से भारत तक केवल समुद्र के रास्ते से ही आया-जाया जा सकता था, इसलिए स्वाभाविक रूप से उसी देश को विजयी होना था जिसकी सामुद्रिक शक्ति सबसे अधिक हो। नतीजा यह हुआ कि करीब सौ वर्षों के अंदर इंग्लैण्ड ने यूरोप की शेष तीनों शक्तियों को एक तरह से पराजित ही कर दिया।

## ईस्ट इंडिया कंपनी की बढ़ती महत्वाकांक्षाएँ

यूरोपीय शक्तियों को पराजित करने के बाद ब्रिटेन ने अपना ध्यान भारत के शासकों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने पर लगाया। अब तक ब्रिटेन भारत में केवल एक व्यापारी के रूप में था। इस बीच उसने भारतीय शासकों से कुछ विशेषाधिकार प्राप्त कर लिये थे, जैसे कि सन् 1717 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने मुगल बादशाह से एक फरमान प्राप्त किया था। उस फरमान के द्वारा उसे यह विशेष अधिकार मिल गया था कि कंपनी बिना टैक्स दिए बंगाल में कहीं भी अपने माल का आयात-निर्यात कर सकती थी। यहाँ तक कि उसे अपने सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए पास जारी करने का भी अधिकार था। चूँकि भारतीय व्यापारियों को टैक्स देना पड़ता था, इसलिए स्वाभाविक रूप से अंग्रेज़ व्यापारी लाभ की स्थिति में रहे। इसी कारण उनका व्यापार फलता-फूलता गया।

जब कंपनी को इस तरह के लाभ प्राप्त होने लगे, तब उसकी व्यापारिक महत्वाकांक्षा और बढ़ने लगी। उसे ऐसा लगा कि यदि उसके हाथ में राजनीतिक प्रभुसत्ता आ जाए, तब वह अपने व्यापार को और भी अधिक लाभकारी बना सकेगी और उसकी इसी महत्वाकांक्षा का परिणाम हुआ सन् 1757 में लड़ी गई प्लासी की लड़ाई। इस युद्ध में ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला को हरा दिया, और इसी के साथ भारत पर ब्रिटेन का राजनीतिक शासन प्रारंभ हो गया। इस लड़ाई के कारण ब्रिटेन की ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में मुक्त व्यापार करने का अधिकार दे दिया गया। इससे उन्हें कलकत्ता के पास चौबीस परगना की ज़मींदारी भी मिल गई। इस लड़ाई से ब्रिटेन की प्रतिष्ठा बढ़ गई। बंगाल से कर के रूप में उसे काफी धन मिलने लगा और इस प्रकार पूरे देश पर ब्रिटेन के प्रभुत्व का दरवाज़ा खुल गया।

इसके बाद आधुनिक भारत के इतिहास की दूसरी महत्वपूर्ण लड़ाई सात वर्ष बाद 1764 में बक्सर में लड़ी गई। इस लड़ाई ने एक प्रकार से ब्रिटिश शक्ति को भारत में पूरी तरह स्थापित कर दिया, क्योंकि इसके द्वारा

अंग्रेज़ों ने एक साथ भारत के सभी प्रमुख शासकों को पराजित किया था। ये शासक थे- बंगाल का मीर कासिम, अवध का नवाब शुजाउद्दौला और मुगल बादशाह शाहआलम द्वितीय। बक्सर की लड़ाई ने अंग्रेज़ों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा का मालिक बना दिया। साथ ही अवध पूरी तरह उनकी कृपा पर निर्भर हो गया। प्लासी की लड़ाई से कंपनी को केवल बंगाल से ही राजस्व वसूल करने का अधिकार मिला था, किन्तु अब बक्सर की लड़ाई ने उसको बिहार और उड़ीसा से भी राजस्व वसूल करने का अधिकार दे दिया। इस प्रकार व्यापार करने आई ईस्ट इंडिया कंपनी 150 से थोड़े से अधिक वर्षों में ही भारत की प्रभुत्व शक्ति बन बैठी।

## सोने की चिड़िया के पर नोंच लिए

सन् 1757 में शुरू हुई इस गुलामी के विरुद्ध पहली सामूहिक आवाज़ सन् 1857 में दिल्ली के पास मेरठ से उठी थी। इसे भारतीय इतिहास में प्रथम स्वतंत्रता संग्राम कहा जाता है। इस बीच के सौ वर्षों में अंग्रेज़ सरकार के केवल दो मुख्य स्वार्थ थे। पहला यह कि किस प्रकार अधिक से अधिक धन कमाकर ब्रिटेन भेजा जाए और दूसरा यह कि भारत के ऊपर ब्रिटेन के शासन को कैसे अधिक से अधिक मज़बूत किया जाए। ब्रिटेन ने इस बीच इस देश में जो कुछ भी किया, वह केवल इन्हीं दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए था।

इस दृष्टि से ब्रिटेन पूर्ववर्ती विदेशियों से पूरी तरह अलग रहा। जैसा कि पहले बताया गया, इससे पूर्व कई विदेशी भारत में आकर यहीं बस गए। उन्होंने जो कुछ भी कमाया, उसे इसी देश में लगाया। वह सम्पत्ति बाहर नहीं गई। उन्होंने मूल व्यवस्था से कोई छेड़खानी नहीं की, पर ब्रिटेन इन सबके बिलकुल विपरीत था। वह जो कुछ भी कमाता था, उसे ब्रिटेन भेजा जाता था। कमाने का भी तरीका उसने विशेष अपनाया। उसने अपनी नीतियों के द्वारा भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रारंभिक स्वरूप को नष्ट कर दिया। अपने हितों के लिए उसने छोटे-छोटे ज़मींदार बना दिए और उनसे

प्रति वर्ष एक निश्चित राजस्व की वसूली करने लगा। इससे किसानों में त्राहि-त्राहि मच गई। भारत के किसानों से इकट्ठा किया गया वह धन इंग्लैंड भेज दिया जाता था। कहा तो यह ज़रूर जाता है कि इसी समय ब्रिटेन में जो औद्योगिक क्रांति हुई, वह बहुत कुछ भारत से भेजे गए धन के कारण ही हुई। इस प्रकार ब्रिटेन के प्रतिनिधित्व में देश का ज़बरदस्त आर्थिक शोषण होने लगा।

ब्रिटेन ने भारतीय हस्तकला उद्योग को भी नष्ट करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। उस समय भारतीय वस्त्र विश्व में श्रेष्ठ माना जाता था। यूरोपीय देशों को भारत से कपड़ा निर्यात किया जाता था, लेकिन प्लासी और बक्सर की लड़ाई के बाद कम्पनी ने ऐसी नीतियाँ अपनाईं कि भारतीय हस्तकला उद्योग लंगड़ा हो गया। अंग्रेज़ों ने बुनकरों को इस बात के लिए मजबूर किया कि वे अपना माल सस्ती दरों पर अंग्रेज़ों को बेचें, भले इससे उन्हें घाटा ही क्यों न होता हो। कम्पनी ने कपास की बिक्री पर भी एकाधिकार कर लिया। इसके साथ ही इंग्लैण्ड जाने वाले भारतीय कपड़ों पर ऊँचे कर लगा दिए। नतीजा यह हुआ कि ब्रिटेन में भारतीय वस्त्र महँगे हो गए। दूसरी ओर ब्रिटेन में मशीन से बने हुए वस्त्रों का मूल्य काफी सस्ता होता था। इस प्रकार यह सूती कपड़ा उद्योग एक प्रकार से ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति का मुख्य आधार बन गया।

अंग्रेज़ों के शासन के दुष्परिणाम कुछ वर्षों बाद दिखाई पड़ने लगे और इसके परिणामस्वरूप जगह-जगह उसके विरुद्ध आक्रोश व्यक्त होने लगा।

৯০৫

# 2 छिटपुट विद्रोह

अध्याय

सन् 1857 में अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध पहली बार बड़ा विस्फोट हुआ था, लेकिन उससे पहले भी त्रस्त नागरिकों, दस्तकारों, किसानों और आदिवासियों ने अंग्रेज़ी सरकार के विरुद्ध अपना आक्रोश ज़ाहिर किया था। विद्रोह करने वाला यह समूह उन लोगों का था, जो अंग्रेज़ों की नीतियों के कारण ही त्रस्त हुए थे।

सच बात तो यह है कि ब्रिटिश शासन ने भारत में अपनी नई अर्थव्यवस्था, प्रशासन की नई प्रणाली और भू-राजस्व की जो शोषणकारी नीति अपनाई, उसके कारण ग्रामीण अर्थव्यवस्था का स्वरूप कुछ इस तरह बदला कि कृषक समाज में एक उथल-पुथल ही मच गई। लगान की दरें बेहद बढ़ गईं, जबकि गाँवों के विकास के लिए कुछ भी नहीं किया जाता था। इससे किसान नाराज़ हुए। चूँकि पहले की रियासतों के राजाओं और नवाबों को उनकी रियासतों से बेदखल कर दिया गया, इसलिए वे नाराज़ हो गए। प्रशासक आम लोगों पर ज़ुल्म करते और उनका मनमाना शोषण करते थे। दस्तकारों का उद्योग पूरी तरह चौपट हो गया था। धार्मिक लोगों तथा बुद्धिजीवियों एवं कलाकारों के लिए कोई स्थान नहीं रह गया था। इस कारण इन सबके मन में विद्रोह की भावना सुलगने लगी और इसके पीछे मुख्य कारण था- ब्रिटिश शासन का विदेशी चरित्र और उसकी स्वार्थकारी शासन-नीति। इसी का परिणाम हुआ कि सन् 1763 से 1850 के बीच में अंग्रेज़ों के विरुद्ध देश भर में करीब चालीस बड़े तथा अनेक छोटे विद्रोह हुए।

सबसे पहले बंगाल में ज़मींदारों और धार्मिक नेताओं के नेतृत्व में

संन्यासी विद्रोह की शुरुआत हुई, जो सन् 1800 तक चला। बंगाल और बिहार के पाँच जिलों में चुआर विद्रोह हुआ, जो सन् 1816 तक चला। पूर्वी भारत के ही रंगपुर, दीनाजपुर, विष्णुपुर, वीरभूम और सम्बलपुर में सन् 1840 तक कई बड़े विद्रोह हुए। ये विद्रोह सम्पूर्ण भारत में हुए। उत्तर प्रदेश तथा हरियाणा में सन् 1824 में सशस्त्र विद्रोह हुआ। सन् 1814 में अलीगढ़ के ताल्लुकेदारों और सन् 1842 में जबलपुर के बुंदेलों ने हथियार उठाए। सन् 1848-49 में जो द्वितीय पंजाब युद्ध हुआ था, वह मूलतः जनता का ही विद्रोह था।

इसी तरह के विद्रोह पश्चिमी भारत में भी हुए। 1839 और 1849 में गुजरात के कोलियों ने लड़ाई छेड़ी। पेशवाओं की पराजय के बाद महाराष्ट्र में भी संघर्ष होते रहे। इसके अंतर्गत भील विद्रोह, कित्तर विद्रोह, सतारा विद्रोह तथा गडकरी विद्रोह सबसे प्रमुख हैं।

दक्षिण भारत में पहला विद्रोह 1794 में विजयनगरम् के राजा ने किया था। तमिलनाडु तथा आंध्रप्रदेश के पोलियागारों ने भी विद्रोह किया। सन् 1830-31 में मैसूर के किसानों ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध अपने गुस्से का इज़हार किया। इस तरह के कुछ बड़े विद्रोह विशाखापट्टनम, गंजाम और कुरनूल में भी हुए।

इसके साथ ही भारत के विभिन्न भागों में रहने वाले आदिवासियों ने भी उन्नीसवीं सदी के आरंभ में छापामार लड़ाइयाँ लड़ीं। वस्तुतः इन आदिवासियों का आक्रोश औपनिवेशिक शासन द्वारा उनके अपने क्षेत्रों में घुसपैठ करने से हुआ था। उनकी जीवन-प्रणाली में हस्तक्षेप किया गया था। उनकी वनोपज पर कर लगाए गए थे। साथ ही अंग्रेज़ों ने उनके इलाकों में ईसाई मिशनरियों की घुसपैठ करा दी थी। अंग्रेज़ों की शोषक नीति के कारण आदिवासियों के हाथ से उनकी अपनी ज़मीन निकलने लगी थी। ऐसी परिस्थितियों में समय-समय पर उनके आक्रोश व्यक्त होते रहे।

ऐसे आक्रोशों में संथाल के आदिवासियों का विद्रोह सबसे प्रमुख है। बिहार में भागलपुर के पास के संथाल आदिवासियों ने एकजुट होकर सन् 1855 में अपनी आज़ादी के लिए हथियार उठा लिये थे। करीब 48 हज़ार

हथियारबंद संथाल आदिवासी संगठित होकर उठ खड़े हुए थे।

इसके साथ ही सन् 1830 से 36 तक छोटा नागपुर के कोल आदिवासियों का विद्रोह जारी रहा। आंध्रप्रदेश की रम्पा पहाड़ी में रहने वाले आदिवासियों ने सरकार द्वारा नियुक्त किए गए मनसबदारों के भ्रष्टाचार और नये जंगल कानून के विरुद्ध विद्रोह किया। बिहार में राँची के पास के मुण्डा आदिवासियों ने बिरसा मुण्डा के नेतृत्व में सन् 1899 में ज़बरदस्त विद्रोह किया।

ये छिटपुट आंदोलन इस बात के प्रमाण हैं कि भारतीय जनता अंग्रेज़ी प्रभुत्व के विरुद्ध आवाज़ उठाने लगी थी, लेकिन दुर्भाग्य यह था कि ये सारी आवाज़ें छिटपुट रूप में अलग-अलग उठ रही थीं। उनका कोई एक राष्ट्रव्यापी संगठन नहीं था। चूँकि उस समय भारत छोटी-छोटी रियासतों में बँटा हुआ था, इसलिए किसी राष्ट्रव्यापी संगठन के अस्तित्व की अपेक्षा भी नहीं की जानी चाहिए, लेकिन इतना ज़रूर था कि इन छिटपुट विद्रोहों ने यह बात सिद्ध कर दी थी कि भारतीय जनता के अंदर आज़ादी के लिए लावा उबल रहा है, जो कभी-कभी ज्वालामुखी के रूप में बाहर उफन पड़ता है। भले ही इन छिटपुट आंदोलनों का कोई एक ठोस परिणाम सामने न आ पाया हो, लेकिन इसमें कोई दो मत नहीं कि इन विद्रोहों ने भविष्य के संघर्ष के लिए एक पृष्ठभूमि का काम किया। उसने भारतीय नेताओं को भारतीय जन-मानस से परिचित कराया और यह विश्वास दिलाया कि अंग्रेज़ों के विरुद्ध छेड़े गए किसी भी आंदोलन में देश की आम जनता उनके साथ रहेगी।

ജ്വ

# 3 प्रथम स्वतंत्रता आंदोलन

भले ही अंग्रेज़ इसे 'सिपाहियों का विद्रोह' कहें, लेकिन था यह प्रथम स्वतंत्रता संग्राम ही। यह मूल रूप से देश के लाखों किसानों, दस्तकारों, सैनिकों और विदेशी शासन से त्रस्त लोगों का विद्रोह था, जो करीब एक साल तक चला और जिसने पहली बार अंग्रेज़ी सत्ता की चूलें हिला दीं। सन् 1857 के विद्रोह की शुरुआत दिल्ली से 36 मील दूर स्थित मेरठ से उस समय हुई थी, जब वहाँ के कुछ सिपाहियों ने चर्बी लगे कारतूसों का उपयोग करने से मना कर दिया था। बात यह थी कि वहाँ की सेना को पहली बार नई इन्फील्ड रायफलें दी गई थीं। उसके कारतूसों पर चिकनाई लगा कागज़ होता था। इस कागज़ के किनारों को दाँतों से काटकर कारतूस को रायफल में भरना पड़ता था। उस चिकनाई में गौ-माँस और सुअर की चर्बी मिली होती थी। इसलिए इसे देखकर हिन्दू और मुसलमान सिपाही गुस्से से भर उठे। उन्हें ऐसा लगा कि सरकार जान-बूझकर उनके धर्म को नष्ट करने में लगी हुई है।

## मंगल पांडे की शहादत

हालाँकि इस विद्रोह की शुरुआत मेरठ में 10 मई, 1857 को हुई थी, जो जल्दी ही सारे उत्तर भारत में फैल गई, लेकिन इसके बीज तो उसी समय पड़ गए थे, जब 29 मार्च को अकेले विद्रोह करने तथा अपने बड़े अफसर पर हमला करने के आरोप में एक नौजवान सैनिक मंगल पांडे को फाँसी

पर चढ़ा दिया गया था। इसके कुछ ही दिनों बाद 24 अप्रैल को जब एक रेजीमेंट के 99 सिपाहियों ने चिकनाई मिले कारतूसों को लेने से मना कर दिया, तो उन्हें 9 मई को बर्खास्त करके दस साल की कैद की सज़ा सुना दी गई। जैसे ही यह हुआ, वैसे ही मेरठ में रहने वाले भारतीय सैनिकों ने विद्रोह करके अपने कैद साथियों को छुड़ा लिया, अफसरों को मार दिया और विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। जैसे ही 10 मई का सूरज अपनी लालिमा को समेटकर पश्चिम दिशा की गोद में उतर गया, वैसे ही ये विद्रोही सिपाही दिल्ली की ओर बढ़े। इतिहासकार विपिन चन्द्र के शब्दों में-

"11 मई, 1857 को दिल्ली की सड़कों पर सवेरा अभी उतर ही रहा था, ज़िन्दगी की हलचल अभी शुरू भी नहीं हुई थी कि तभी मेरठ से आए सिपाहियों का एक दस्ता यमुना पार कर शहर में पहुँचा। उन्हें सामने दिखाई दिया चुँगी का दफ़्तर। उन्होंने उसमें आग लगा दी और फिर लाल किले की तरफ बढ़ गए। इन सिपाहियों ने एक दिन पहले ही मेरठ में अपने अंग्रेज़ अफसरों का आदेश मानने से इंकार कर दिया था और उनकी हत्या कर दी थी।"

सिपाहियों के शहर में प्रवेश करते ही दिल्ली जैसे नींद से जागी। अच्छी-खासी भीड़ इन सिपाहियों के पीछे हो ली। सब रोमांचित थे। राजघाट दरवाज़ा पार कर ये लोग लालकिले के भीतर पहुँचे। सिपाहियों का यह दस्ता यहाँ यह अपील करने आया था कि सम्राट इन सिपाहियों का नेतृत्व स्वीकार करें।

मुगल सम्राट बहादुरशाह ज़फर को इन विद्रोही सैनिकों ने तत्काल भारत का बादशाह घोषित कर दिया और देखते ही देखते दिल्ली महान विद्रोह का केन्द्र और बहादुरशाह उसके प्रतीक बन गए। दिल्ली पर कब्ज़े के एक महीने के अंदर ही कानपुर, लखनऊ, बनारस, इलाहाबाद, बरेली, जगदीशपुर और झाँसी जैसे सभी बड़े केन्द्रों को इस विद्रोह ने अपनी लपेट में ले लिया। इन स्थानीय विद्रोहों का नेतृत्व स्थानीय सामन्तों, नवाबों और राजाओं ने संभाला। कानपुर में इसका नेतृत्व किया नाना साहब ने, लखनऊ

में बेगम हजरतमहल ने तथा बरेली में खान बहादुर ने। बिहार में जगदीशपुर के ज़मींदार कुँवरसिंह ने विद्रोह का नेतृत्व किया। झाँसी में रानी लक्ष्मीबाई ने सिपाहियों की कमान संभाली, जो लॉर्ड डलहौजी की दत्तक नीति के कारण अपने अधिकार से वंचित कर दी गईं थीं। इन्दौर के सैनिक विद्रोह करके सिपाहियों के साथ जा मिले। राजस्थान और महाराष्ट्र के अनेक छोटे सरदार जनता के समर्थन से विद्रोह की स्थिति में आ गए।

## दो गज ज़मीन भी नसीब न हुई

देश का यह प्रथम स्वतंत्रता संग्राम करीब एक वर्ष तक चला, लेकिन चूँकि यह संग्राम संगठित नहीं था, इस कारण इसके वांछित परिणाम नहीं निकल पाए। अंग्रेज़ी सरकार ने अपनी आधुनिकतम सैन्य शक्ति के बल पर इस विद्रोह को दबाने में सफलता पाई। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई युद्ध करते हुए शहीद हुईं। नाना साहब की ओर से लड़ते हुए तात्या टोपे ने वीर-गति प्राप्त की। वे सन् 1859 तक अंग्रेज़ों के विरुद्ध गुरिल्ला लड़ाई लड़ते रहे और अंत में एक ज़मींदार द्वारा धोखा दिए जाने के कारण अंग्रेज़ों ने उन्हें मौत के घाट उतार दिया। मुगल सम्राट बहादुरशाह ज़फर कैद करके रंगून भेज दिए गए। कुँवरसिंह ने काफी बहादुरी दिखाई और अंत तक अंग्रेज़ों को पता नहीं लगने दिया कि वे कहाँ हैं। एक अनुमान के अनुसार केवल अवध में ही अंग्रेज़ों के साथ लड़ाई में डेढ़ लाख लोग मारे गए, जिनमें एक लाख से अधिक लोग नागरिक थे। इससे यह बात प्रमाणित होती है कि अंग्रेज़ों के विरुद्ध केवल सिपाही और ज़मींदार ही नहीं, बल्कि इन क्षेत्रों की जनता भी उठ खड़ी हुई थी। करीब-करीब एक वर्ष के अंदर, 2 सितम्बर, 1857 को अंग्रेज़ों ने दिल्ली पर कब्ज़ा करके बूढ़े बहादुरशाह को कैद कर लिया। उनके शहज़ादों को पकड़कर कत्ल कर दिया। बादशाह पर मुकदमा चलाकर देश-निकाले के तौर पर रंगून भेज दिया गया, जहाँ सन् 1872 में उनकी मृत्यु हो गई और इस प्रकार महान मुगल वंश के अंतिम शासक को अंत समय में अपने देश की मिट्टी तक नसीब नहीं हुई।

हालाँकि यह स्वतंत्रता संघर्ष भारत को स्वतंत्रता नहीं दिला पाया, लेकिन सेनानियों का बलिदान और जनता का संघर्ष व्यर्थ नहीं गया। यह भारतीय इतिहास की एक युगान्तरकारी घटना बनी, जिसने भविष्य के आंदोलन को प्रेरणा दी। यह भारतीय जनता का उस उपनिवेशवादी शासन के प्रति पहला राष्ट्रीय संघर्ष था, जिसके साम्राज्य में कभी भी सूर्यास्त नहीं होता था। इस संघर्ष ने भारतीय जनता के मन में यह विश्वास पैदा किया कि यदि वे एकजुट होकर अंग्रेज़ों की सत्ता के विरुद्ध उठ खड़े हों, तो स्वतंत्रता के अपने लक्ष्य को पा सकते हैं। भारतीय जनता के सामने अब कुछ ऐसे आदर्श नायक उपस्थित हो गए थे, जिनसे वे भविष्य में स्वतंत्रता के लिए प्रेरणा पाते रहे। नब्बे वर्षों बाद भारत गुलामी की जिस दासता से मुक्त हुआ, उसका बिगुल सन् 1857 में बज चुका था।

ꕥ

# 4 आन्दोलन का ठहराव

अध्याय

सन् 1857 के प्रथम स्वतंत्रता-संघर्ष ने अचानक ब्रिटिश सरकार की आँखें खोल दीं। इंग्लैण्ड की सरकार इस विद्रोह से अचानक चैतन्य हो उठी और उसने भारत में अपने साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिए कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किए।

इनमें सबसे पहला और महत्वपूर्ण कदम यह था कि ब्रिटेन की संसद ने एक अधिनियम पारित किया। इसके अनुसार भारत पर शासन करने के ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकार को समाप्त कर दिया गया और उसे भारत मंत्री को सौंप दिया गया। इसका मतलब यह हुआ कि अब भारत पर एक व्यापारी संस्था का शासन न होकर ब्रिटेन की संसद का शासन हो गया। ठीक इसी के अनुकूल भारत में ब्रिटेन के सर्वोच्च अधिकारी को, जिसे अब तक गवर्नर जनरल कहा जाता था, अब वायसराय कहा जाने लगा। वायसराय का अर्थ होता है- राजा का वैयक्तिक प्रतिनिधि। तीसरे यह कि अंग्रेज़ों को लगा कि सन् 1857 का विद्रोह इसलिए हुआ क्योंकि अंग्रेज़ी सत्ता भारतीयों की परम्परा और रीति-रिवाज़ों में हस्तक्षेप करने लगी थी, जो कि भारतीय जनता को पसंद नहीं आया। इसलिए ब्रिटेन ने यह निर्णय लिया कि वह भविष्य में भारतीयों के किसी भी सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करेगा। इन बिन्दुओं के अतिरिक्त अंग्रेज़ों ने कुछ अन्य कदम भी उठाए, जैसे- प्रान्तीय सरकारों का गठन किया और उन्हें स्वायत्तता दी गई। नगरपालिका और जिला परिषद् को पुनर्जीवित करके उन्हें शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई और जल-आपूर्ति जैसे काम सौंपे गए। अंग्रेज़ों ने अपने

हित में सेना के स्वरूप में भी परिवर्तन किया। उनको ऐसा लगा कि सन् 1857 का सैनिक विद्रोह इसलिए हुआ, क्योंकि सेना में भारतीयों की संख्या ज़्यादा थी। अब उनका प्रयास रहा कि यूरोपीय और भारतीय सैनिकों के परस्पर अनुपात को अपने पक्ष में रखा जाए। साथ ही यूरोपीय फौजों को महत्वपूर्ण स्थानों पर रखा जाए। अंग्रेज़ों ने अपनी भारतीय सेना का संगठन 'फूट डालो और राज करो' की नीति के आधार पर किया। अब फौज में भर्ती करते समय जाति, क्षेत्र और धर्म के नाम पर भेदभाव किए गए। कई रेजीमेंट जाति, क्षेत्र और सम्प्रदाय के आधार पर बनाई गईं, जैसे- सिख रेजीमेंट, गोरखा रेजीमेंट और पठान रेजीमेंट।

अंग्रेज़ों ने भारतीय रियासतों के प्रति भी अपने दृष्टिकोण को बदला। सन् 1857 के विद्रोह के समय कई रियासतों ने अंग्रेज़ों का साथ दिया था। इसे देखते हुए अंग्रेज़ों ने यह घोषणा की कि भारतीय शासक यदि किसी को गोद लेकर अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहें, तो उसे मान्यता दी जाएगी। यह भी कहा गया कि किसी भी रियासत के इलाकों पर अंग्रेज़ी सरकार कब्ज़ा नहीं करेगी। अंग्रेज़ों की यह एक चालाकी से भरी नीति थी, जिससे भविष्य में उनको फायदा पहुँचा। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में जब स्वतंत्रता आंदोलन ने ज़ोर पकड़ा, तो अंग्रेज़ों के द्वारा उपकृत कई देसी रियासतों ने इस स्वतंत्रता आंदोलन के विरुद्ध अंग्रेज़ों का साथ दिया।

सन् 1857 के विद्रोह में अंग्रेज़ों ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच जो एकता देखी, उससे उनके कान खड़े हो गए। इसलिए उन्होंने इसके तुरंत बाद हिन्दू और मुसलमानों के बीच फूट डालकर राज करने की नीति का सहारा लिया। विद्रोह के तुरंत बाद अंग्रेज़ों ने मुस्लिम-विरोधी नीति अपनाई और उन्हें दण्ड दिया। साथ ही हिन्दुओं को अपना प्रिय पात्र घोषित किया। कुछ ही वर्षों बाद सन् 1870 में अंग्रेज़ों ने अपनी इस नीति को उलट दिया तथा वे उच्च और मध्यम वर्ग के मुस्लिमों को राष्ट्रीय चेतना के विरुद्ध उकसाने का काम करने लगे।

अंग्रेज़ों को यह भी लगा कि जनता को शिक्षित करने में प्रेस की भी भूमिका रही है। और यह बात झूठ भी नहीं थी। राजा राममोहन राय,

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दादाभाई नौरोजी, न्यायमूर्ति रानाडे, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय तथा विपिनचन्द्र पाल जैसे राष्ट्रीय नेताओं द्वारा निकाले जा रहे समाचार-पत्र सरकारी नीतियों की पोल खोलकर जनता को शिक्षित करने का काम कर रहे थे। इससे पूरे देश में एक राष्ट्रीय चेतना पैदा हो रही थी। इसको नियंत्रित करने के लिए पहली बार सन् 1878 में वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट पास करके भाषायी समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता को दबाने की कोशिश की गई, लेकिन इसके विरुद्ध इतनी ज़ोरदार आवाज़ उठी कि सन् 1882 में उसे रद्द करना पड़ा।

## भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रहार

ब्रिटिश सरकार ने एक ऐसी आर्थिक नीति अपनाई थी, जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था का परम्परागत स्वरूप न केवल बदल गया था, बल्कि कहना चाहिए कि चरमरा ही गया था। भारतीय अर्थव्यवस्था एक प्रकार से औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में परिवर्तित हो गई थी।

शहर में रहने वाले हस्त-शिल्पियों की आर्थिक स्थिति अचानक खराब हो गई थी, क्योंकि उन्हें इंग्लैण्ड में मशीन से बने हुए सस्ते कपड़ों का मुकाबला करना पड़ता था। जहाँ तक ग्रामीण हस्त-शिल्पियों का सवाल था, रेलवे का विकास होते ही उनकी भी बरबादी की शुरुआत हो गई, क्योंकि अब ब्रिटेन में बनी वस्तुएँ दूर-दराज़ के क्षेत्रों तक पहुँचने लगीं। नतीजा यह हुआ कि सूती कपड़ों के साथ-साथ रेशमी और ऊनी वस्त्रों के उद्योग को भी बहुत धक्का पहुँचा। इसके साथ ही लोहा, मिट्टी के बर्तन, धातु, कागज़, शीशा तथा रंगाई जैसे उद्योगों की भी हालत दयनीय हो गई। चूँकि अंग्रेज़ों ने भारत में आधुनिक उद्योग नहीं लगाए थे, इसलिए इन बेरोज़गार हस्त-शिल्पियों को रोज़गार भी नहीं मिल सका। नतीजा यह हुआ कि लोग खेती पर अधिक से अधिक निर्भर होते गए, जिसका अंतिम परिणाम किसानों की दरिद्रता के रूप में सामने आया।

ज़मीन पर भी अंग्रेज़ सरकार कर बढ़ाती रही, लेकिन उसने कृषि

के विकास के लिए कोई विशेष उपाय नहीं किए। अंग्रेज़ों की कर प्रणाली से महाजनों को ही लाभ हुआ, किसानों को नहीं। महाजन गाँव वालों से ऊँची दर पर ब्याज़ लेते थे। साथ ही अपने कर्ज़ की वसूली के रूप में वे किसानों की ज़मीन को भी हथिया सकते थे। इसके कारण किसान कर्ज़ में डूबते चले गए और उनकी ज़मीन धीरे-धीरे महाजनों के हाथों में चली गई, जिनके रूप में अंग्रेज़ों ने अपना एक हितैषी वर्ग तैयार कर लिया।

निश्चित रूप से अंग्रेज़ों के शासनकाल में देश की आर्थिक स्थिति निरन्तर गिरती गई। अंग्रेज़ों ने पूरे भारत का इस्तेमाल एक चरागाह की तरह किया, जिसका अपने हित में अधिकाधिक आर्थिक शोषण करना ही उनका एकमात्र लक्ष्य था। उनकी नीतियों के कारण गाँव के लोग तबाह हो ही रहे थे, लेकिन इस तबाही को और बढ़ा दिया लगातार पड़ने वाले अकालों ने। सन् 1860-61 में पहला बड़ा अकाल पश्चिम उत्तरप्रदेश में पड़ा था, जिसमें करीब दो लाख लोगों के मरने का अनुमान है। ठीक इसके बाद सन् 1865-66 में उड़ीसा, बंगाल, बिहार और मद्रास अकाल की चपेट में आए और करीब बीस लाख लोगों को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा। सन् 1868-70 में पश्चिमी उत्तरप्रदेश, मुम्बई और पंजाब में जो अकाल पड़ा, उसमें अनुमानत: चौदह लाख लोग मरे, लेकिन सबसे भयंकर अकाल सन् 1876-78 में मद्रास, मैसूर, हैदराबाद, महाराष्ट्र, पश्चिमी उत्तरप्रदेश और पंजाब में पड़ा। इस अकाल में करीब पैंसठ लाख लोगों की मृत्यु हुई। सन् 1896-97 के अकाल से नौ करोड़ लोग प्रभावित हुए। अकाल का यह सिलसिला उन्नीसवीं सदी के अंत तक चलता रहा। एक अनुमान लगाया गया कि इस दौरान देश में जितने अकाल पड़े, उनमें करीब तीन करोड़ लोगों की जानें गईं। इन सबका मिला-जुला परिणाम यह हुआ कि भारतीय जनता त्राहि-त्राहि कर उठी। उसे ऐसा लगने लगा, मानो उसकी इस स्थिति का ज़िम्मेदार औपनिवेशिक शासन ही था। इसके कारण भारतीय जनता के मन में अंग्रेज़ी हुकूमत के प्रति दबी हुई चिंगारी धीरे-धीरे सुलगने लगी, जिसने आगे चलकर लपटों का रूप धारण किया।

ꕥ

अध्याय

# 5 नई चेतना का उदय

अंग्रेज़ों के आने से पूर्व भारत का जन-जीवन अपनी संस्कृति और परंपराओं के अनुसार परंपरागत ढंग से चल रहा था। जैसा कि पहले बताया गया, यदि विदेशी शासक आए भी तो वे भारतीय जन-जीवन के साथ घुल-मिल गए। इससे भारतीय चेतना में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुए। लेकिन अंग्रेज़ों की संस्कृति एक अलग महाद्वीप की संस्कृति थी, जिसका तालमेल एशिया में स्थित भारत की संस्कृति के साथ नहीं बैठता था। जब तक अंग्रेज़ व्यापारी के रूप में रहे, तब तक उनका कुछ विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। इतना अवश्य था कि ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार के कारण भारतीय जन-चेतना एक करवट ज़रूर लेने लगी थी, लेकिन इसका प्रभाव मूलतः दूर-दराज़ के क्षेत्रों में ज़्यादा था।

लेकिन अठारहवीं शताब्दी तक जब अंग्रेज़ों ने भारत पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व भी कायम कर लिया, तब उन्होंने हमारे यहाँ की व्यवस्था को भी अपने अनुकूल बदलने की कोशिश की। उन्होंने शिक्षा-व्यवस्था में परिवर्तन किए। भारत में रहने वाले यूरोपियों की जीवन-पद्धति अलग थी। यूरोपीय साहित्य और कला भी भारत पहुँची। बहुत से भारतीय अध्ययन के लिए यूरोपीय देश गए। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के दौरान आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा और चिन्तन का इस प्रकार प्रसार हुआ कि अनेक भारतीयों ने लोकतांत्रिक दृष्टिकोण, तर्क-सम्मत ज्ञान, धर्म-निरपेक्षता तथा राष्ट्रीयता जैसे नये विचारों को ग्रहण किया। उनके ये विचार सभाओं

के द्वारा तथा प्रेस के द्वारा जन–जन तक पहुँचने लगे। स्वयं भारत यह महसूस करने लगा कि यदि उसे औपनिवेशिक शासन से मुक्त होना है तो उसके लिए एक राष्ट्रीय चेतना विकसित करना होगी, और इसके लिए ज़रूरी है कि धार्मिक दृष्टिकोण में सुधार लाया जाए, लोगों को तर्कपूर्ण बनाया जाए तथा देश में एक सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन की शुरुआत की जाए। चूँकि उस समय तक भारत मूलत: धर्मप्राण राष्ट्र ही था, इसलिए धार्मिक सुधार की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया गया। यह बात अलग है कि इस धार्मिक सुधार में ही सामाजिक सुधार के बीज निहित थे। जब देश में प्रथम स्वतंत्रता आंदोलन की लहर शांत हुई, तब स्वाभाविक रूप से सामाजिक सुधार की यह प्रवृत्ति व्यापक बनी। सामाजिक सुधार की इसी प्रक्रिया को भारतीय इतिहास में आधुनिक नवजागरण या आधुनिक पुनर्जागरण आंदोलन कहा जाता है।

## धार्मिक सुधार

पाश्चात्य विचारों से प्रेरित विकासशील भारतीयों ने सबसे पहले परम्परागत धर्म को अधिक मानवीय एवं तर्कपूर्ण बनाने का संकल्प लिया। उन्होंने उस समय प्रचलित धार्मिक मान्यताओं को आधुनिकता के साँचे में इस तरह ढालने का प्रयास किया, ताकि उनके विरुद्ध कोई तीव्र प्रतिक्रिया भी न हो और धर्म लोगों की आधुनिक आवश्यकताओं के अनुकूल भी बन सके।

### ब्रह्म समाज

बंगाल के राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना की थी। इन्हें आधुनिक भारत का महान समाज–सुधारक कहा जा सकता है। राजा राममोहन राय पर भारतीय और पाश्चात्य विचारों का एक समान प्रभाव था। उन्होंने अनेक भाषाएँ सीखीं और विभिन्न साहित्यों का अध्ययन किया। इन सब के प्रभाव के कारण राजा राममोहन राय प्रगतिशील दृष्टिकोण वाले चिन्तक बन गए थे। उनका यह चिन्तन भारतीयों की निरर्थक परम्पराओं

के विरोध में तथा पश्चिमी देशों की उपयोगी परम्पराओं के पक्ष में था। अपने इन विचारों को मूर्त रूप देने के लिए उन्होंने सन् 1829 में एक धार्मिक संस्था का गठन किया था, जिसका नाम था 'ब्राह्मण सभा'। इसे ही बाद में 'ब्रह्म समाज' कहा गया।

इस समाज का मुख्य उद्देश्य हिन्दू धर्म की बुराइयों को दूर करके उसे तर्क पर आधारित करना था। साथ ही वे एकेश्वरवाद की भी शिक्षा देना चाहते थे। उनका मानना था कि ईश्वर एक ही होता है।

राजा राममोहन राय को अपने जीवन की सबसे बड़ी सफलता उस समय मिली, जब वे गवर्नर जनरल लॉर्ड विलियम बेंटिक की सहायता से सती प्रथा के विरुद्ध कानून बनवाने में सफल हुए। इसके लिए राजा राममोहन राय ने जनमत तैयार किया। लोगों को समझाया-बुझाया तथा मज़बूत तर्क दिए। इसी के साथ उन्होंने इस दृष्टिकोण को भी बदलने का प्रयास किया कि हिन्दू महिलाएँ बुद्धि की दृष्टि से निम्न कोटि की होती हैं। उन्होंने बहु-विवाह की भी आलोचना की।

राजा राममोहन राय अंग्रेज़ी शिक्षा के समर्थक थे। उनका मानना था कि भारत में आधुनिक शिक्षा का प्रसार अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से ही किया जा सकता है। लेकिन वे भारतीय शिक्षा के विरोधी नहीं थे। उन्होंने सन् 1817 में कलकत्ता में जहाँ अपने खर्च से एक अंग्रेज़ी स्कूल की स्थापना की थी, वहीं सन् 1825 में वेदान्त कॉलेज की भी स्थापना की। शुरू में ब्रह्म समाज कुछ विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर सका, लेकिन बाद में जब इस संस्था में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर शामिल हुए, तब उन्होंने इसमें नई जान डाली। देवेन्द्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व में ब्रह्म समाज ने विधवाओं के फिर से विवाह करने तथा नारी-शिक्षा का समर्थन किया और बहु-विवाह के विरोध में होने वाले आंदोलन का पक्ष लिया।

ब्रह्म समाज की परंपरा को सन् 1866 में केशवचन्द्र सेन ने और सुदृढ़ किया। उन्होंने 'एक ईश्वर की पूजा' की बात की और भारतीय समाज की कुरीतियों को दूर करने के प्रयास किए। उन्होंने यह भी कहा

कि सभी पाश्चात्य चिन्तन व्यर्थ नहीं हैं और उनके जो अच्छे गुण हैं, उनको हिन्दू समाज में शामिल किया जाना चाहिए। इन्होंने ब्राह्मणवादी व्यवस्था तथा मूर्तिपूजा और अंधविश्वास का विरोध किया। ब्रह्म समाज ने जाति-प्रथा तथा बाल-विवाह के विरुद्ध भी आवाज़ उठाई।

हालाँकि ब्रह्म समाज का असर मूल रूप से बंगाल तक तथा थोड़े बहुत अर्थों में देश के अन्य भागों के पढ़े-लिखे लोगों तक ही रहा, लेकिन इसका महत्वपूर्ण योगदान यह है कि इसने समाज-सुधार के क्षेत्र में क्रांति का बिगुल बजाने का काम किया।

## आर्य समाज

इसकी स्थापना स्वामी दयानंद सरस्वती ने सन् 1875 में की थी। इस संगठन का कार्यक्षेत्र मुख्य रूप से उत्तर भारत रहा। इसके संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती ने 'वेदों की ओर लौट चलो' का नारा दिया। उनका मानना था कि वेदों की परम्परा अत्यन्त प्रगतिशील और तर्कवादी परम्परा थी, लेकिन स्वार्थी पण्डे-पुरोहितों ने बाद में पुराण आदि लिखकर वेदों की मूल भावना को दूषित कर दिया। इसलिए उन्होंने मूर्तिपूजा, कर्म-काण्ड, पुरोहितवाद तथा जाति-प्रथा आदि का ज़बरदस्त विरोध किया।

इस संस्था से जुड़े लाला हंसराज ने पाश्चात्य पद्धति के अनुसार शिक्षा देने के लिए देश में डी.ए.वी. स्कूलों की श्रृंखला प्रारंभ की। स्वामी श्रद्धानंद ने हरिद्वार के निकट गुरुकुल की स्थापना की।

धीरे-धीरे आर्य समाजियों को समाज में प्रगतिशील व्यक्ति माना जाने लगा। इन्होंने नारियों की दशा सुधारने तथा उनके बीच शिक्षा का प्रचार-प्रसार करने का सबसे बड़ा काम किया। ये सामाजिक समानता के समर्थक थे। इसलिए इन्होंने अस्पृश्यता और जाति-प्रथा का विरोध किया।

## थियोसोफिकल सोसायटी

इसकी स्थापना मूल रूप से अमेरिका में हुई थी, लेकिन बाद में इसकी संस्थापक मैडम एच.पी. ब्लावास्की और कर्नल एच.एम. ऑल्काट ने

भारत में भी इसकी शुरुआत की। इसका मुख्यालय सन् 1886 में मद्रास के निकट उड्यार में बनाया गया। भारत में इसकी मुख्य कर्ता-धर्ता श्रीमती एनी बेसेन्ट थीं। इस सोसायटी ने हिन्दू धर्म, जरथ्रुष्ट धर्म और बौद्ध धर्म को पुनर्जीवित करके उसे मज़बूत बनाने का प्रयास किया। इन्होंने बंधुत्व की शिक्षा दी। बनारस के सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल की स्थापना का श्रेय इसी सोसायटी को जाता है।

## रामकृष्ण मिशन

स्वामी विवेकानंद ने अपने गुरु स्वामी रामकृष्ण परमहंस के नाम से इस संस्था की स्थापना की थी। इस मिशन ने रामकृष्ण के इस संदेश को जन-जन तक पहुँचाने का काम किया कि 'ईश्वर एक है, और मुक्ति प्राप्त करने के अनेक साधन हैं। वास्तव में मानव की सेवा करना ही ईश्वर की सेवा करना है, क्योंकि मनुष्य में ही ईश्वर का वास है।'

स्वामी विवेकानंद वेदान्त के समर्थक थे। उन्होंने वेदान्त को तर्कवादी और प्रगतिशील घोषित किया। उन्होंने कर्म करने पर विशेष ज़ोर दिया और भारतीय समाज के पतन के लिए अंधविश्वासों, कर्मकाण्डों तथा जड़ता को दोषी ठहराया। इन्होंने अस्पृश्यता, जाति-प्रथा और कर्मकाण्डों की ज़ोरदार निंदा की और लोगों से कहा कि वे स्वतंत्रता और समानता की भावना अपने अंदर लाएँ।

## प्रार्थना समाज

महाराष्ट्र में धार्मिक सुधार की शुरुआत परमहंस मंडली ने की। इसका मुख्य उद्देश्य मूर्तिपूजा और जाति-प्रथा का विरोध करना था। हिन्दुओं के धार्मिक चिन्तन और प्रथाओं में सुधार लाने के लिए प्रार्थना समाज की स्थापना की गई। इसने एकेश्वरवाद का उपदेश दिया तथा पुरोहितवाद का विरोध किया। प्रसिद्ध विद्वान आर.जी. भण्डारकर तथा महादेव गोविन्द रानाडे इस समाज के दो प्रमुख नेता हुए।

वस्तुतः ऊपर जिन सुधारक संस्थाओं की चर्चा की गई है, उनका कार्यक्षेत्र मूलतः हिन्दू वर्ग तक ही सीमित था। यह बात नहीं थी कि उस समय हिन्दू समाज की परम्पराएँ ही ऐसी थीं जिनमें सुधार लाए जाने की आवश्यकता थी। सच तो यह था कि उस समय का समस्त भारतीय समाज -जिसमें मुस्लिम, सिख और पारसी भी शामिल थे- मध्यकालीन जीवन-मूल्यों से संचालित हो रहा था, जबकि दूसरी ओर फ्रांस की क्रांति के बाद विश्व में -विशेषकर यूरोपीय देशों में- जीवन के प्रति एक नया चिंतन तेजी से फैल रहा था। इस नये चिंतन के मूल तत्व थे- मानवतावाद, तर्कवाद तथा स्वतंत्रता और समानता। निश्चित रूप से भारत में यूरोपियों के प्रवेश के साथ-साथ इन चिंतनों ने भी प्रवेश किया और जब इनकी कसौटी पर भारतीय समाज के जीवन मूल्यों को कसा गया, तो उन्हें दकियानूसी और पिछड़ा हुआ पाया गया। इस बात का अनुभव केवल यूरोपीय लोगों ने ही नहीं किया, बल्कि स्वयं भारत के पढ़े-लिखे और शिक्षित लोगों ने भी किया। इसलिए उन्होंने अपने-अपने स्तर पर भारतीय समाज में जागृति लाने के प्रयास किए।

## मुस्लिमों में धार्मिक सुधार

मुस्लिमों की प्रवृत्ति अपने आपको पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति से अलग रखने की थी, इसलिए उनके बीच सुधार के तत्व देर से प्रकट हुए। जैसा कि बताया जा चुका है, सन् 1857 के आंदोलन के बाद मुस्लिम समाज ने भी स्वयं को आधुनिकता से जोड़ने की ज़रूरत महसूस की। सन् 1863 में कलकत्ता में मुहम्मडन लिटरेरी सोसायटी की स्थापना से इसकी शुरुआत हुई।

सैयद अहमद खान इस तरह के प्रयास करने वालों में प्रथम एवं अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्ति रहे। वे आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन से प्रभावित थे। इसलिए उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि कुरान की कोई भी बात जो तर्क की कसौटी पर खरी न उतरती हो या कि विज्ञान और प्रकृति से जिसका तालमेल न बैठता हो, गलत है। वे जीवन भर परम्पराओं के

आधुनिकीकरण के लिए और गलत रीति-रिवाज़ों व अज्ञान के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। उन्होंने अनेक स्कूलों की स्थापना की। 'मुहम्मडन एंग्लो ओरियंटल कॉलेज' की स्थापना का श्रेय जनाब सैयद अहमद खान को ही है। बाद में यह कॉलेज 'अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय' के नाम से जाना गया।

शायर मोहम्मद इकबाल ने अपनी रचनाओं द्वारा युवा पीढ़ी के मुसलमानों पर गहरा असर डाला। उन्होंने कर्म पर ज़ोर दिया तथा लोगों से प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाने की बात कही। मोहम्मद इकबाल ने कर्मकाण्ड, संन्यास और परलोकवाद की आलोचना की। इन सबके कारण मुस्लिमों की चेतना में एक हलचल पैदा हुई और उन्होंने अपनी परम्पराओं तथा रीति-रिवाज़ों के बारे में आलोचनात्मक ढंग से सोचना शुरू किया।

## धार्मिक और सामाजिक आंदोलनों का योगदान

सामान्य रूप से देखने पर यह लगता है कि इन धार्मिक और सामाजिक आंदोलनों की स्वतंत्रता आंदोलनों में भला क्या भूमिका हो सकती है, लेकिन गहराई से देखने पर यह बात कही जा सकती है कि इन धार्मिक और सामाजिक आंदोलनों के बिना शायद स्वतंत्रता आंदोलन संभव नहीं हो पाता। इसके पीछे कुछ स्पष्ट कारण हैं।

पहली बात तो यह कि इन धार्मिक और सामाजिक आंदोलनों ने पहली बार भारतीय समाज की चेतना को झिंझोड़ने का काम किया, उसे पिछड़ेपन से उबारने की शुरुआत की। इन्होंने उसके सामने मानवतावादी जीवन-दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। इस सब के कारण भारतीय जनमानस में एक नयी चेतना पैदा हुई, अपनी वर्तमान स्थितियों के प्रति एक असंतोष पैदा हुआ और वे एक नये सामाजिक स्वरूप का स्वप्न देखने लगे।

दूसरी बात यह कि इन आंदोलनों ने भारतीय समाज में व्याप्त ऊँच-नीच को कम करके सभी लोगों को मुख्यधारा में लाने का प्रयास किया। जाति-प्रथा और अस्पृश्यता जैसी अमानवीय प्रथाओं का विरोध करके

इन्होंने हिन्दू समाज के बीच भेदभाव की दीवार को कमज़ोर किया। इससे हिन्दू समाज में एकता स्थापित हुई। अब तक तिरस्कृत एवं पददलित रहे लोगों के मन में आत्मविश्वास का भाव आया और उन्होंने पहली बार अपने संबंधों को वृहत्तर समाज के साथ जोड़कर देखा। यही स्थिति नारियों के साथ भी हुई। नारियों को सामाजिक सम्मान मिलने से वे भी स्वयं को समाज का एक सक्रिय एवं महत्वपूर्ण अंग समझने लगीं। उनमें आत्मविश्वास पैदा हुआ। हम देखते हैं कि बीसवीं शताब्दी में जब स्वतंत्रता आंदोलन तेज़ हुआ, तब भारतीय महिलाओं ने भी आंदोलन में भाग लिया और जेल गईं। ज़ाहिर है कि यदि भारतीय समाज अपनी मध्यकालीन परम्पराओं के खुमार में ही सोया रहता तो स्वतंत्रता आंदोलन को भारतीय नारियों का सहयोग नहीं मिल सकता था।

तीसरी महत्वपूर्ण बात रही कि ये सामाजिक और धार्मिक आंदोलन पूरे देश में हुए। चूँकि इन भिन्न-भिन्न आंदोलनों के उद्देश्य कमोवेश एक ही रहते थे, इसलिए कहा जा सकता है कि एक ही आंदोलन पूरे देश में व्याप्त था। इसके कारण पूरा देश एकजुट हो सकता था। यह कहना गलत होगा कि पूरे देश को राष्ट्रीयता के स्तर पर एक करने में इन सुधारवादी आंदोलनों की ऐतिहासिक भूमिका नहीं रही है।

ഋ൦൩

# 6 भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना

अध्याय

सन् 1857 के प्रथम स्वतंत्रता आंदोलन के बाद से पूरे देश की स्थिति पहले जैसी सामान्य नहीं रह गई थी। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेज़ों के विरुद्ध आक्रोश व्यक्त होने लगा था। ब्रिटिश हुकूमत आलोचना के केन्द्र में आ गई थी। अब भारतीयों को यह स्पष्ट रूप से समझ में आने लगा था कि ब्रिटेन के लिए भारत की अहमियत एक बाज़ार जैसी है, जहाँ से वह अधिक से अधिक धन कमाने की कोशिश कर रहा है। हालाँकि इस बीच ब्रिटेन ने भारत के आधुनिकीकरण की शुरुआत भी की थी। रेल यातायात प्रारंभ किया गया। डाक-तार विभाग का जाल फैलाया गया। लेकिन राष्ट्रीय नेता इन सबके पीछे छिपी औपनिवेशिक चाल की पोल लोगों तक पहुँचाते रहे। इसलिए अंग्रेज़ अपने आपको भारतीयों का छद्म हितैषी भी सिद्ध करने में असफल रहे। यह बात अलग है कि ज़मींदारों और शासकों का वर्ग ज़रूर अंग्रेज़ों के साथ था, क्योंकि इससे उनके स्वार्थ जुड़े थे, लेकिन शेष जनता अंग्रेज़ों की चाल को समझने लगी थी।

प्रथम स्वतंत्रता आंदोलन के बाद से ही समाज में हलचल-सी होने लगी थी, लेकिन वे हलचलें इतने छोटे रूप में और बिखरी हुई थीं कि उनका कोई सकारात्मक स्वरूप नहीं बन पा रहा था। इसलिए भारतीय और अंग्रेज़, दोनों को तभी से यह अनुभव होने लगा था कि ऐसा कुछ किया जाए जिससे इन हलचलों को संगठित किया जा सके। अब तक भारतीयों की ऐसी स्थिति हो चुकी थी कि उन्हें किसी संगठन के अंतर्गत

इकट्ठा किया जाए।

दूसरी ओर अंग्रेज़ भी यह महसूस करने लगे थे कि यदि भारतीयों की माँगों को बताने वाला कोई एक संगठन बन जाए, तो उन्हें आसानी हो जाएगी। ऐसी ही स्थिति में दिसम्बर, सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना हुई। इसकी स्थापना का श्रेय एक सेवानिवृत्त आई.सी.एस. अंग्रेज़ अधिकारी ए.ओ. ह्यूम को जाता है।

भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का पहला अधिवेशन मुम्बई में आयोजित हुआ। उमेशचन्द्र बैनर्जी इसके अध्यक्ष बने। उस समय इसमें 72 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस संगठन ने अपने उद्देश्य में कहा कि वह देश के अलग-अलग भागों में रह रहे राष्ट्रवादी राजनीतिक कार्यकर्ताओं के बीच मित्रतापूर्ण संबंध बनाने में मदद करेगा; जाति, धर्म या क्षेत्र के आधार पर बिना किसी भेदभाव के राष्ट्रीय एकता को बढ़ाएगा; साथ ही जनता की माँगों को सरकार के सामने प्रस्तुत करेगा। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस ने यह भी निश्चय किया कि वह देश में जन-चेतना जागृत करेगी।

भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का दूसरा अधिवेशन एक साल बाद कलकत्ता में हुआ। दादाभाई नौरोजी इसके अध्यक्ष बने। इसमें 436 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सच तो यह है कि इस दूसरे अधिवेशन के बाद से ही काँग्रेस पूरे देश का संगठन बन गया। अब इसका अधिवेशन हर साल दिसम्बर में देश के अलग-अलग भागों में होने लगा। धीरे-धीरे उसके सदस्यों की संख्या बढ़ती चली गई और देखते ही देखते इसकी बैठकों ने एक राजनैतिक महाकुम्भ का रूप धारण कर लिया।

भले ही काँग्रेस की स्थापना का उद्देश्य चाहे जो भी रहा हो, लेकिन इसके साथ ही पूरे देश के एकीकरण और स्वतंत्रता के लिए सामूहिक संघर्ष की शुरुआत हो गई थी। यह एक राजनीतिक संगठन भले ही था, लेकिन उससे भी कहीं अधिक बढ़कर यह एक आंदोलनकारी संगठन बना। आगे चलकर यही संगठन भारत के लिए आज़ादी प्राप्त करने वाला प्रमुख संगठन बन सका।

## नयी काँग्रेस, नया भारत

इतिहास में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना (1885) से लेकर बंगाल के विभाजन (1905) तक के बीस वर्षों के कार्यकाल को एक नये भारत के उदय के रूप में देखा जाता है। चूँकि ये बीस वर्ष भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के आरंभिक वर्ष थे, वह कुछ विशेष आंदोलनकारी कदम नहीं उठा पायी, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि यह काल पूरी तरह व्यर्थ ही गया।

वस्तुतः उस समय के राष्ट्रीय नेता इस बात से अच्छी तरह परिचित थे कि यदि उन्होंने कोई क्रांतिकारी कदम उठाया, तो उसे सरकार के द्वारा आसानी से दबा दिया जाएगा। इसलिए उन्होंने क्रमशः स्वतंत्रता प्राप्त करने की नीति अपनायी। उनकी नीति यह थी कि वे सरकार के सामने अपनी कुछ माँगें रखते थे, जिनमें से कुछ माँगों को वह आवश्यक परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लेती थी और शेष को निरस्त कर देती थी, लेकिन इससे काँग्रेस को अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में कोई बाधा नहीं आती थी। काँग्रेस जो भी माँगें रखती और सरकार की उस पर जो भी प्रतिक्रिया होती, देखते ही देखते उससे सारा देश परिचित हो जाता था। मूलतः आरंभ के इन बीस वर्षों में काँग्रेस की यही सबसे बड़ी सफलता रही कि उसने समस्त माँगों के प्रति भारतीय लोगों में जागृति पैदा की। इससे जो मानसिक पृष्ठभूमि बनी, उसी के कारण सन् 1905 के बंगाल-विभाजन के विरुद्ध राष्ट्रव्यापी आंदोलन खड़ा हो सका।

काँग्रेस अपनी स्थापना के शुरू के सात वर्षों तक यह प्रयास करती रही कि विधान परिषद् में जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों को अधिक से अधिक स्थान मिले। उस समय के नेताओं की यह धारणा थी कि यदि परिषद् में अधिक से अधिक भारतीय पहुँच सकेंगे तो वे विदेशी सरकार की भारत संबंधी नीतियों को देश के हित में प्रभावित कर पाएँगे। इसी के परिणामस्वरूप सन् 1892 में 'इंडियन कौंसिल एक्ट' पास किया गया। इस अधिनियम के अंतर्गत केन्द्र एवं प्रांतीय परिषदों की सदस्य-संख्या

बढ़ा दी गई। यह भी व्यवस्था की गई कि कुछ भारतीयों को अप्रत्यक्ष रूप से चुना जाएगा, लेकिन बहुमत अंग्रेज़ अफसरों का ही बना रहेगा। स्वाभाविक था कि इस अधिनियम से भारतीय नेता खुश नहीं हुए। इसलिए यह माँग बराबर बनी रही कि परिषद् में और अधिक भारतीय लिए जाएँ और उन्हें अधिक अधिकार दिए जाएँ।

उस समय के राष्ट्रीय नेताओं ने स्पष्ट रूप से कहा कि भारत का धन इंग्लैण्ड ले जाया जा रहा है, इसलिए इसे रोका जाए। किसानों से लिए जाने वाले कर की दर कम की जाए। इसके लिए काँग्रेस ने आंदोलन चलाए। बागान मज़दूरों की दशा में सुधार के लिए भी आंदोलन किए गए। 'नमक कर' को समाप्त करने की भी माँग की गई। भले ही ब्रिटिश सरकार ने इन माँगों को नहीं माना, लेकिन इन माँगों के कारण देश के सारे लोग अंग्रेज़ों की शोषक नीति से परिचित हो गए।

राष्ट्रवादी नेताओं ने यह भी माँग की कि कार्यपालिका और न्याय पालिका की शक्तियाँ अलग-अलग हों। सरकार भारतीयों को हथियार रखने का अधिकार दे। साथ ही सरकार राज्य में कल्याणकारी कार्यों की शुरुआत करे।

ब्रिटिश सरकार ने काँग्रेसियों की इन माँगों पर कोई खास गौर नहीं किया। इस कारण काँग्रेस के अंदर एक ऐसा दूसरा वर्ग बनने लगा था, जो ब्रिटिश सरकार के प्रति उग्र हो रहा था। काँग्रेस का पहला वर्ग नरमपंथियों का था, जो ब्रिटिश सरकार के प्रति नर्म रुख रखते हुए धीरे-धीरे परिवर्तन के हिमायती थे। इनका मानना था कि अभी भारतीयों की ऐसी स्थिति नहीं है कि विदेशी शासकों को सीधे ही चुनौती दे सकें। लेकिन दूसरा वर्ग अंग्रेज़ों की धीमी चाल और तिरस्कारपूर्ण नीति के कारण आक्रोश में था। उसका अंग्रेज़ों की सहानुभूति पर कोई विश्वास नहीं था। इस वर्ग ने जुझारू कार्यक्रमों का पक्ष लिया। लोकमान्य तिलक एवं अन्य नेता इसी पक्ष के थे। इस वर्ग के नेताओं को ही आगे चलकर उग्रवादी कहा गया।

अपनी स्थापना के बीस वर्षों के अंदर ही काँग्रेस जनता को यह बताने में सफल रही थी कि किस प्रकार ब्रिटेन भारत का आर्थिक शोषण

कर रहा है। सरकार के सामने अपनी माँगें रखकर उसने एक प्रकार से पूरे क्षेत्र के लिए राजनीतिक और आर्थिक कार्यक्रम प्रस्तुत कर दिया था, जिसके आधार पर संगठित होकर पूरे देश को अपने आगे के संघर्ष को जारी रखना था। यही भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के आरंभ के बीस वर्षों की सबसे बड़ी उपलब्धि रही। और जैसे ही सन् 1905 में अंग्रेज़ों ने बंगाल को विभाजित करके देश के संघर्ष को कमज़ोर करने की चाल चली, वैसे ही भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का स्वरूप भी उग्र हो उठा और इसी के साथ स्वतंत्रता आंदोलन में उग्र राष्ट्रवादी आंदोलन की शुरुआत हुई।

ഇ൨

अध्याय 7

# बंगाल का विभाजन

सन् 1905 में किया गया बंगाल का विभाजन इस बात का प्रमाण था कि अब तक पूरे देश में राष्ट्रीय चेतना का विकास हो चुका था और वह चेतना एक उग्रवादी मुद्रा धारण कर चुकी थी। नरमपंथियों की सभाओं, याचिकाओं, स्मरण-पत्रों तथा विधान परिषदों में दिए जाने वाले भाषणों का युग समाप्त हो चुका था। सन् 1897 में नाटु बंधुओं को बिना मुकदमा चलाए देश निकाला दे दिया गया। इसी साल विदेशी सत्ता के खिलाफ जनता को भड़काने के आरोप में लोकमान्य तिलक सहित कई अन्य समाचार सम्पादकों को जेल की लम्बी सज़ाएँ दी गईं। सन् 1904 में ऑफिशियल सीक्रेट्स एक्ट बनाकर प्रेस पर नियंत्रण रखने की चाल चली गई। सन् 1904 के भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम के द्वारा विश्वविद्यालयों में सरकारी नियंत्रण कड़ा कर दिया गया, ताकि वहाँ के छात्रों में राष्ट्रवादी विचारों के प्रसार को रोका जा सके।

इसी समय अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं, जिनका सकारात्मक प्रभाव भारतीय चेतना पर पड़ा। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में एशिया का ही एक छोटा-सा देश जापान एक शक्तिशाली औद्योगिक राष्ट्र के रूप में उभर रहा था। सन् 1905 में जापान ने रूस को पराजित कर इस मिथक को तोड़ दिया था कि यूरोपीय जाति विश्व की श्रेष्ठ जाति है। इसके कारण एशिया के लोगों में नये उत्साह का संचार हुआ। इससे पहले सन् 1896 में इथोपिया जैसे छोटे-से अफ्रीकी देश के हाथों इटली को मुँह की खानी पड़ी थी। आयरलैण्ड, रूस, मिस्त्र, तुर्की आदि जगहों पर हुए क्रांतिकारी

आंदोलनों के कारण भारत के लोगों में भी यह विश्वास पैदा होने लगा था कि यदि वे भी एकजुट हो जाएँ तो ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकना कोई कठिन काम नहीं होगा। भारतीयों के अंदर इस तरह का जोश और आत्मविश्वास पैदा करने का काम लोकमान्य तिलक तथा विपिनचन्द्र पाल जैसे राष्ट्रीय नेता और विवेकानंद जैसे विचारक तेज़ी से कर रहे थे। विवेकानन्द ने सन् 1893 में शिकागो में आयोजित विश्व धर्म सम्मेलन में भारतीय धर्म के पक्ष में जो ज़ोरदार भाषण दिया, उससे पूरी दुनिया भारत के बारे में जानने को उत्सुक हो उठी। इन सारी स्थितियों के कारण भारतीयों में, विशेषकर नौजवानों में नये सिरे से आत्मसम्मान और आत्मविश्वास की भावना आ गई थी। लोगों को अब यह लगने लगा था कि जब तक राजनीतिक सत्ता हमारे अपने हाथों में नहीं आएगी, तब तक देश की आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रगति नहीं हो सकती। इसी धारणा को तोड़ने के लिए सन् 1905 का षड्यंत्र रचा गया।

इस समय बंगाल की आबादी आठ करोड़ से थोड़ी ही कम थी, जो कि भारत की कुल आबादी की एक-चौथाई थी। उड़ीसा और बिहार, बंगाल के ही हिस्से थे। उस समय बंगाल राष्ट्रीय चेतना और राष्ट्रीय संघर्ष का केन्द्र बन गया था। वायसराय लॉर्ड कर्जन ने बंगाल-विभाजन का यह फैसला किसी प्रशासनिक कारण से नहीं, बल्कि राजनीतिक कारण से लिया था। लॉर्ड कर्जन के ही अनुसार, ''अंग्रेज़ी सत्ता का यह प्रयास कलकत्ता को सिंहासनच्युत करने के लिए था, बंगाली आबादी को बाँटने के लिए था, एक ऐसे केन्द्र को समाप्त करने के लिए था जहाँ से बंगाल और पूरे देश में काँग्रेस पार्टी का संचालन होता था और षड्यंत्र रचे जाते थे।''

अंग्रेज़ों का मानना था कि बंगाल का विभाजन हो जाएगा तो राष्ट्रीय चेतना बिखर जाएगी और राष्ट्रीय नेता एक-दूसरे से दूर हो जाएँगे, जिसके कारण अंग्रेज़ों के विरुद्ध कोई संगठित प्रयास नहीं किया जा सकेगा। यह एक प्रकार से भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर एक सुनियोजित हमला था।

## बँटवारे का जवाब एकता से

भारतीय नेताओं को बंगाल के विभाजन के प्रस्ताव की सूचना दिसम्बर, 1903 में ही मिल गई थी। इस सूचना के मिलते ही इसके विरोध में एक ज़बरदस्त ज्वार उठ खड़ा हुआ। इस विरोध की तीव्रता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि दो महीनों के अंदर बंगाल-विभाजन के विरुद्ध करीब पाँच-सौ बैठकें हुईं और करीब पचास हज़ार पर्चे पूरे बंगाल में बाँटे गए। सरकार के पास इतने बड़े ज्ञापन भेजे गए, जिनमें सत्तर हज़ार से भी अधिक लोगों के हस्ताक्षर थे। सरकार ने सन् 1905 में बंगाल का विभाजन करने की घोषणा की थी। इस प्रकार सन् 1903 से 1905 के मध्य तक का काल एक प्रकार से बंगाल-विभाजन के विरोध का ही काल था। भारतीयों के इतने ज़बरदस्त विरोधों के बाद भी अंग्रेज़ अपने निर्णय पर अटल रहे तथा 19 जुलाई, 1905 को बंगाल विभाजन की विधिवत् घोषणा कर दी गई। इस घोषणा को भारतीय नेताओं ने भारतीय जनता का घनघोर अपमान समझा। सरकार की इस घोषणा के कारण भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस पर अपने आप ही उग्रवादी नेताओं का वर्चस्व स्थापित हो गया। अंग्रेज़ों की इस घोषणा ने यह सिद्ध कर दिया कि नरमपंथियों की माँग और विनम्रता का उस पर कोई भी असर नहीं होता।

अन्ततः 16 अक्टूबर, 1905 को बंगाल का विभाजन विधिवत् रूप से लागू हो गया। इस दिन को पूरे बंगाल में राष्ट्रीय शोक दिवस के रूप में मनाया गया। घरों में चूल्हे नहीं जले, लोगों ने उपवास रखे, जुलूस निकाले गए। वन्देमातरम् जैसा राष्ट्रीय गीत गाते हुए लोग सड़कों पर निकल आए। लोगों ने गंगा में स्नान कर राष्ट्रीय एकता का संकल्प लिया। एक-दूसरे के हाथों पर राखियाँ बाँधकर अंग्रेज़ी हुकूमत को यह संदेश दिया गया कि उनकी कोई भी चाल भारतीयों की एकता में दरार पैदा नहीं कर सकती। उसी दिन दो विशाल सभाएँ आयोजित की गईं। एक जनसभा में पचास हज़ार और दूसरी में 75 हज़ार लोग इकट्ठे हुए। इससे पहले राष्ट्रीय आंदोलन की किसी भी सभा में एक साथ इतनी भीड़ कभी इकट्ठी नहीं हुई थी।

## पहली बार आम हुई आज़ादी की लड़ाई

7 अगस्त, 1905 को कलकत्ता के टाउनहॉल के एक ऐतिहासिक सम्मेलन में स्वदेशी आंदोलन की विधिवत् घोषणा की गई। उसी दिन बहिष्कार प्रस्ताव भी पारित हुआ। प्रतिदिन बैठकें होने लगीं और बहिष्कार के नारे से आकाश गूँजने लगा। देखते ही देखते विदेशी माल के बहिष्कार तथा स्वदेशी आंदोलन का नारा घर-घर पहुँच गया। अनेक स्थानों पर खुलेआम विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई तथा विदेशी कपड़ों की दुकानों के सामने धरना दिया गया।

बंगाल के छात्रों और महिलाओं ने स्वदेशी आंदोलन में भाग लिया। प्रतिक्रियास्वरूप आंदोलनकारी छात्रों को स्कूल और कॉलेज में दंडित किया गया। उन पर जुर्माना लगाया गया। उन्हें स्कूल और कॉलेजों से निकाल दिया गया और गिरफ्तार कर लिया गया। उनकी छात्रवृत्तियाँ बंद कर दी गईं और परीक्षाओं में बैठने से रोक दिया गया। उन्हें लाठियों से भी पीटा गया, लेकिन छात्रों ने झुकने से साफ मना कर दिया।

पहली बार ऐसा हुआ कि घर में रहने वालीं शहर की मध्यम वर्ग की महिलाएँ अंग्रेज़ी हुकूमत के विरोध में खुलकर सड़कों पर आईं। ये महिलाएँ जुलूस में शामिल हुईं और उन्होंने विदेशी वस्तुओं की दुकानों के आगे धरना दिया। स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं की यह पहली भागीदारी थी।

छात्रों, अध्यापकों और वकीलों ने सरकारी स्कूलों, अदालतों और सरकारी नौकरियों का बहिष्कार किया। अनेक भारतीयों ने अपनी सरकारी उपाधियाँ सरकार को लौटा दीं। इसका उद्देश्य अंग्रेज़ी प्रशासन को पंगु बनाना था।

'बंग भंग आंदोलन' ने पूरे देश में ऊर्जा की एक ऐसी लहर पैदा कर दी थी कि इस आंदोलन का नेतृत्व देखते ही देखते लोकमान्य तिलक, विपिनचन्द्र पाल जैसे लड़ाकू और गर्मदलीय नेताओं के हाथों में आ गया। चूँकि भारतीय जनता भी अंग्रेज़ों की पिछली नीतियों से हताश हो चुकी थी, अतः वह भी इन्हीं नेताओं के पीछे चल पड़ी।

## चौंक गए अंगेज़

अंग्रेज़ों के लिए यह राष्ट्रव्यापी आंदोलन चौंकाने वाला था। सन् 1857 के बाद पहली बार इतना विशाल जन-आंदोलन हुआ था। इसलिए सरकार ने इस आंदोलन को कुचलने के लिए कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी। वन्देमातरम् का नारा गैरकानूनी घोषित कर दिया गया। सार्वजनिक सभाओं पर प्रतिबंध लगा दिया गया। प्रेस को नियंत्रित करने के लिए कड़े कानून बनाए गए। स्वदेशी आंदोलन के कार्यकर्ताओं पर मुकदमा चलाकर उन्हें जेल की लम्बी सज़ाएँ दी गईं। अनेक शहरों में सेना तैनात कर दी गई। कुछ सम्मेलनों पर हमला भी किया गया। युवा स्वयंसेवकों को पकड़कर उन्हें तितर-बितर कर दिया गया। कुछ को देश-निकाला भी दिया गया, जिनमें लाला लाजपतराय और भगत सिंह भी शामिल थे। सन् 1908 में उस समय के महान और अखिल भारतीय स्तर पर लोकप्रिय नेता लोकमान्य तिलक को गिरफ्तार करके छह साल के बर्बर कारावास की सज़ा दे दी गई।

सरकारी दमन और जोश के उफान के बाद सन् 1906 के मध्य तक पहुँचते-पहुँचते बंग-भंग से पैदा हुए स्वदेशी आंदोलन की ऊर्जा समाप्त-सी हो गई, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि आंदोलन असफल हो गया। इस आंदोलन ने समाज के सबसे बड़े वर्ग के अंदर पहली बार राष्ट्रीय चेतना का संचार किया, जो अब तक इससे पूरी तरह अंजान था। बंगाल और देश के अन्य भागों के ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के युवक और महिलाएँ पहली बार आंदोलन में शामिल हुए। इस आंदोलन का स्वरूप इतना व्यापक था कि आंदोलन का कोई भी तरीका शायद ही छूट पाया हो। चाहे जन-सभाएँ हों, अदालती कार्यवाहियाँ हों, उग्र प्रतिरोध हों, हड़ताल हों, असहयोग हों- सब के सब इस आंदोलन में दिखाई पड़े। एक विशेषता यह भी रही कि यह आंदोलन एक राजनीतिक आंदोलन नहीं था। कला, साहित्य, संगीत, विज्ञान और उद्योग पर भी इस आंदोलन का प्रभाव पड़ा। इसका नतीजा यह हुआ कि समाज का हर वर्ग इस आंदोलन से अपने-आप जुड़ गया। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के पहले दशक के मध्य में शुरू हुए इस आंदोलन ने एक संघर्ष का रूप ले लिया था, जिसकी परिणति 15 अगस्त, 1947 को हुई।

ജറ

# 8 क्रांतिकारी आंदोलन का जन्म

अध्याय

अन्ततः सन् 1905 में लॉर्ड कर्जन ने बंगाल का विभाजन कर ही दिया। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इस विभाजन ने एक प्रकार से नरमपंथी काँग्रेसियों की असफलता की घोषणा करके गरमपंथियों के लिए द्वार खोल दिए। नरमपंथियों से जनता का भी मोह भंग हो चुका था। भारत एक नये उत्साह के आगोश में था। ऐसी स्थिति में जब 26 दिसम्बर, 1906 को सूरत में ताप्ती नदी के किनारे काँग्रेस का अधिवेशन हुआ, तो यह अधिवेशन काँग्रेस के लिए एक बड़ा आघात था। नरमपंथी और गरमपंथी दोनों में से कोई भी किसी की बात सुनने को तैयार नहीं था। इसमें सोलह-सौ प्रतिनिधियों ने भाग लिया, जो एक-दूसरे पर उत्तेजित होकर आरोप-प्रत्यारोप लगाते रहे। तनाव इतना बढ़ गया कि पुलिस को हस्तक्षेप करके सभागार खाली कराना पड़ा। काँग्रेस का अधिवेशन समाप्त हो गया और सूरत में काँग्रेस दो भागों में विभाजित हो गई। उसके दो चेहरे हो गए- पहला गर्म दल और दूसरा नर्म दल।

काँग्रेस के इस विभाजन के साथ ही एक प्रकार से जन-आन्दोलन थम-सा गया। कुछ लोगों ने एकता के प्रयास किए, लेकिन वे असफल रहे। सरकार ने भी गरमपंथियों के विरुद्ध दमन की नीति अपनायी। अखबारों को प्रतिबंधित कर दिया गया। तिलक को माण्डले जेल भेज दिया गया। एक क्रांतिकारी षड्यंत्र में शामिल होने के आरोप में अरविन्द घोष को हालाँकि बेकसूर छोड़ दिया गया, लेकिन उन्होंने राजनीति को छोड़कर त्याग-चिंतन का मार्ग अपना लिया और पाँडिचेरी चले गए। विपिनचन्द्र पाल भी खिन्न

होकर राजनीति से कमोवेश अलग हो गए। लाला लाजपतराय सन् 1908 में ब्रिटेन चले गए और फिर वहाँ से लौटने के बाद अमेरिका गए। ऐसी स्थिति में ऐसा कोई राजनेता नहीं रह गया था जो गरमपंथियों की विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए देश को समेट सके। इस प्रकार सन् 1908 की समाप्ति तक सम्पूर्ण राष्ट्रीय आंदोलन थम-सा चुका था। सन् 1909 में जब अरविन्द घोष जेल से बाहर आए, तब उन्होंने टिप्पणी की कि ''जब मैं जेल जा रहा था तो सम्पूर्ण देश एक नये राष्ट्र की कल्पना को संजोए हुए जीवन्त दिख रहा था, सोए हुए लाखों हृदयों में नई राजनीतिक चेतना हिलोरें लेने लगी थी। लेकिन जब मैं जेल से बाहर आया तो पूरे देश में स्तब्ध मौन था।'' सन् 1914 में तिलक छह वर्ष की जेल की सज़ा काटकर बाहर आए। इसके बाद उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन को फिर से जीवित करने का प्रयास किया। सौभाग्य से तब तक महात्मा गांधी भी दक्षिण अफ्रीका में अपने सत्याग्रह का प्रयोग करके भारत लौट चुके थे। इस प्रकार आंदोलन की एक नई चेतना के लिए सारी सामग्री तैयार थी।

## युवाओं के सीने में थी आग

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं था कि सन् 1908 से 1920 तक का कार्यकाल आंदोलन की खामोश मृत्यु का कार्यकाल था। बंग-भंग विरोधी आंदोलन के समय राजनीति में जिन युवाओं का प्रवेश हो गया था, उनके अन्दर एक अलग किस्म की ज्वाला धधक रही थी। काँग्रेस के मौन हो जाने के कारण उनमें एक क्षोभ था। सरकारी दमन के विरुद्ध उनमें ज़बरदस्त आक्रोश था। ब्रिटिश सत्ता अभी भी दम्भ और दमन की नीति पर चल रही थी। इसके कारण उनके मन में अंग्रेज़ों के प्रति घृणा का भाव था। जब आक्रोश से भरे इन युवाओं ने यह देखा कि शान्तिपूर्ण विरोध के सभी रास्ते बंद हो गए हैं, तब उन्होंने बम का रास्ता अपनाया। उन्होंने बदनाम अंग्रेज़ अफसरों की हत्या करने की योजना बनाई। इन युवकों का यह मानना था कि यदि अंग्रेज़ अफसरों की हत्या की गई, तो उससे एक साथ कई लाभ होंगे। इससे

अंग्रेज़ी शासक भयभीत हो उठेंगे; भारतीय जनता को संघर्ष करने की प्रेरणा मिलेगी; उनके दिलों से अंग्रेज़ों का भय समाप्त हो जाएगा; हत्या करने वाला जब पकड़ा जाएगा तो उसके बलिदान से भी जनता को प्रेरणा मिलेगी। इन युवकों ने यह रास्ता आयरिश आतंकवादियों तथा रूस के विनाशवादियों के तरीकों से प्रेरित होकर अपनाया, और इस प्रकार देश में एक क्रांतिकारी आंदोलन की शुरुआत हो गई।

इससे पहले भी सन् 1897 में चापेकर बंधुओं ने पूना में बदनाम ब्रिटिश अधिकारियों की हत्या की थी। सन् 1904 में विनायक दामोदर सावरकर ने 'अभिनव भारत' नाम से क्रांतिकारियों का एक गुप्त संगठन बनाया था। सन् 1905 के बाद कई अखबार क्रांतिकारी आतंकवाद के पक्ष में लिखने लगे और इस प्रकार बंगाल में क्रांति की व्यक्तिवादी और आतंकवादी कार्रवाइयों ने अपनी जड़ें जमा लीं।

सन् 1907 में बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर की हत्या का असफल प्रयास हुआ। सन् 1908 में खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी ने एक बग्घी पर बम फेंका। वे यह समझ रहे थे कि इस बग्घी में मुज़फ्फरपुर का बदनाम जज किंग्सफोर्ड बैठा हुआ है, लेकिन यह उनका भ्रम निकला और उसके स्थान पर दो अंग्रेज़ महिलाएँ मारी गईं। प्रफुल्ल चाकी ने आत्महत्या कर ली और खुदीराम बोस पर मुकदमा चलाकर फाँसी की सज़ा दी गई। देखते ही देखते पूरे देश में अनेक गुप्त संगठन बनने लगे, जिनमें 'अनुशीलन समिति' और 'युगान्तर' प्रमुख थे। अनुशीलन समिति की ढाका में ही पाँच-सौ शाखाएँ थीं। इन संगठनों के दो मुख्य उद्देश्य थे- पहला, अत्याचारी अफसरों, मुखबिरों और देशद्रोहियों की हत्या करना तथा दूसरा, डाके डालकर संगठन के लिए पैसे इकट्ठे करना। इन आतंकवादी क्रांतिकारियों का साहस यहाँ तक बढ़ गया था कि रासबिहारी बोस और सचिन सान्याल के नेतृत्व में वायसराय लॉर्ड हार्डिंग की हत्या का असफल प्रयास किया गया। वे एक समारोह में हाथी पर बैठे हुए थे। उन पर बम फेंका गया। उनकी मृत्यु तो नहीं हुई, किन्तु घायल ज़रूर हो गए।

## विदेशों तक जा पहुँची चिंगारी

क्रांतिकारियों ने अपने केन्द्र विदेशों में भी बनाए। इनमें सबसे प्रसिद्ध क्रांतिकारी थे- श्यामजी कृष्ण वर्मा, वी.डी. सावरकर और हरदयाल तथा, यूरोप में मैडम कामा और अजीत सिंह। लंदन में मदनलाल धींगरा ने कर्जन वायली की हत्या की।

उत्तरी अमेरिका में सन् 1914 से ही पंजाब से लोग जाने लगे थे। इनमें से अधिकतर जालंधर और होशियारपुर के किसान थे। आर्थिक संकटों से छुटकारा पाकर एक सुखी जीवन जीने की आकांक्षा से ये लोग अमेरिका गए थे, लेकिन इनमें से अधिकांश लोगों को कनाडा और अमेरिका में घुसने नहीं दिया गया और जिन्हें बसने दिया भी गया, उनके साथ अत्याचार हुए। इन अप्रवासी भारतीयों ने स्वतंत्रता आंदोलन के लिए वहाँ एक पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी।

## गदर पार्टी का हल्ला

सन् 1911 में हरदयाल केलिफोर्निया पहुँचे और जल्दी ही राजनीतिक गतिविधियों में शामिल हो गए। उन्हें यह विश्वास था कि सशस्त्र क्रांति से स्वतंत्रता प्राप्त की जा सकती है। उन्होंने 'युगान्तर' नाम से एक पर्चा भी छपवाया। उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी तट पर बसे भारतीय किसान किसी नेता की तलाश में थे और उन्हें लाला हरदयाल के रूप में अपना नेता मिल गया। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका तथा कनाडा में रहने वाले भारतीय क्रांतिकारियों ने सन् 1913 में गदर पार्टी की स्थापना की। चूँकि यह अप्रवासी भारतीयों का संगठन था, इसलिए मैक्सिको, जापान, सिंगापुर, थाइलैण्ड, मलाया, फिलीपिन्स और दक्षिण अफ्रीका जैसे देशों में भी इस पार्टी के सदस्य सक्रिय थे।

गदर पार्टी ने भारत में अंग्रेज़ों के विरुद्ध सशस्त्र क्रांति करने की शपथ ली। संयोगवश एक वर्ष बाद ही सन् 1914 में जैसे ही प्रथम विश्व-युद्ध की शुरुआत हुई, वैसे ही गदर पार्टी ने यह निश्चय किया कि हथियार

और क्रांतिकारी भारत भेजे जाएँ, जो वहाँ के सैनिकों और स्थानीय क्रांतिकारियों से मिलकर वहाँ विद्रोह करें। इसके लिए ढेर सारा धन इकट्ठा किया गया। कुछ लोगों ने तो अपनी सारी सम्पत्ति ही इसमें लगा दी। गदर पार्टी के सदस्यों का यह विश्वास था कि दस साल के अंदर भारत में यह सशस्त्र क्रांतिकारी आंदोलन बड़ी तेज़ी से शुरू हो जाएगा।

गदर पार्टी के सदस्यों ने भारत तथा उसके बाहर क्रांतिकारियों से संबंध स्थापित किए। पंजाब में सशस्त्र क्रांति की तिथि भी निश्चित हो गई, लेकिन दुर्भाग्यवश अंग्रेज़ों को इसका पहले से पता चल गया, जिसके फलस्वरूप अनेक नेताओं को जेल में बंद कर दिया गया और बाद में ये फाँसी पर लटका दिए गए। पंजाब में गदर पार्टी के प्रमुख नेता थे- गुरमुख सिंह, करतार सिंह, सोहन सिंह भकना, रहमत अली शाह, भाई परमानंद और मोहम्मद बरकतुल्ला।

सिंगापुर के सैनिकों ने विद्रोह किया, लेकिन उसे निर्ममता से कुचल दिया गया। 37 लोगों को सार्वजनिक रूप से फाँसी के फंदे पर लटका दिया गया और 41 लोगों को आजन्म कारावास की सज़ा दी गई। जतीन मुकर्जी बालासोर में पुलिस से लड़ते हुए शहीद हो गए। ऐसे अन्य बहुत से लोग थे, जिन्होंने भारत के बाहर क्रांतिकारी गतिविधियों का संचालन किया। ऐसे साहसी क्रांतिकारियों में प्रमुख थे- रासबिहारी बोस, राजा महेन्द्र प्रताप, अब्दुल रहमान, सरदार सिंह राणा, मौलाना ओबेदुल्ला सिंधी तथा मैडम कामा। इनमें से राजा महेन्द्र प्रताप और बरकतुल्ला ने तो काबुल में एक अन्तरिम सरकार भी गठित कर ली थी, लेकिन सरकार की निर्मम दमन नीति तथा गदर पार्टी के छिटपुट सशस्त्र विद्रोह के कारण इनका लक्ष्य पूरा नहीं हो सका। फिर भी इसकी सबसे बड़ी सफलता यह थी कि विदेशों में इस पार्टी के सक्रिय होने के कारण उपनिवेशवाद के विरुद्ध एक वैचारिक संघर्ष की शुरुआत हुई। उनके द्वारा प्रकाशित होने वाले 'गदर' अखबार ने औपनिवेशिक चरित्र का पर्दाफाश किया। इस प्रकार भारत की स्वतंत्रता के पक्ष में विदेशों में भी एक जनमत तैयार हुआ। इस पार्टी ने, विशेषकर पंजाब के ग्रामीण क्षेत्रों में, धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रवादी विचारों का प्रचार किया।

यह क्रांतिकारी आतंकवाद भी लम्बे समय तक नहीं चल पाया और धीरे-धीरे ठंडा पड़ गया। इसकी असफलता के कुछ कारण रहे। इसका कोई जनाधार नहीं था। यह छोटे-छोटे समूहों में बँटा हुआ था, जिनका ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सामने टिक पाना आसान नहीं था। इसके बावजूद इन युवाओं ने जिस अदम्य साहस और बलिदान का परिचय दिया, उसने पूरे देश के हृदय में राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए खलबली पैदा कर दी। इसमें कोई दो मत नहीं कि इन युवाओं ने देश में एक नयी ऊर्जा पैदा की और देशवासियों के अंदर राष्ट्र-प्रेम की उत्कट भावना का संचार किया। और इतना सब उन्होंने तब किया जबकि उन्हें न तो किसी राष्ट्रीय नेता का समर्थन प्राप्त था और न ही उनके पास कोई अन्य साधन थे। इनका एकमात्र आधार था- राष्ट्र के प्रति प्रेम और विदेशी सत्ता के प्रति घृणा।

৯০৫

# 9 भ्रम की स्थिति

सन् 1907 के सूरत अधिवेशन में गरम दल और नरम दल के रूप में काँग्रेस के विभाजन के कारण स्वतंत्रता आंदोलन में भ्रम की स्थिति आ गई। यह अंग्रेज़ों के लिए खुश होने वाली बात थी। अब उन्होंने दो तरह की नीतियों का सहारा लिया। पहला तो यह कि मुसलमानों को राष्ट्रीय आंदोलन से अलग करने के लिए 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति अपनाई। दूसरे यह कि अंग्रेज़ सरकार गरम दल के नेताओं से थोड़ा घबराती थी। इसलिए उसने यह नीति अपनायी कि नरम दलीय नेताओं को अपने पक्ष में करके उग्रवादी नेताओं को काँग्रेस से अलग-थलग कर दे। वैसे भी सूरत अधिवेशन में नरमपंथियों ने काँग्रेस पर कब्ज़ा कर लिया था और गरम दलीय नेता अलग किए जा चुके थे। नरमपंथियों को खुश करने के लिए अंग्रेज़ सरकार ने इंडियन कौंसिल एक्ट-1909 की घोषणा की, जिसे 'मार्ले मिंटो सुधार' के नाम से भी जाना जाता है।

## मार्ले मिंटो सुधार

सन् 1909 के इस अधिनियम के द्वारा इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल और प्रांतीय कौंसिल में चुने हुए सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई, लेकिन चूँकि इन सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से होता था और इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में अंग्रेज अफसरों का ही बहुमत था, इसलिए इस सुधार ने नरमपंथियों को निराश ही किया। यहाँ तक कि स्वयं मार्ले ने भी

स्पष्ट रूप से कहा कि इन सुधारों का कोई संबंध भारत में संसदीय प्रणाली की स्थापना करने से नहीं है।

मार्ले मिंटो सुधार का सबसे प्रतिक्रियावादी पक्ष रहा- मुस्लिमों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्र की स्थापना करना। अंग्रेज़ों का मानना था कि चूँकि हिन्दू और मुसलमानों के राजनीतिक हित अलग-अलग हैं, इसलिए अल्पसंख्यक मुस्लिमों के लिए ऐसी व्यवस्था की जानी ज़रूरी है। यहीं से अंग्रेज़ों ने स्पष्ट रूप से हिन्दू और मुसलमानों के बीच फूट डालने के राजनीतिक बीज बो दिए। अंग्रेज़ यह देख रहे थे कि पिछले जो भी आंदोलन हुए हैं, उनमें हिन्दू और मुस्लिमों ने मिलकर भाग लिया। यह एकता उनके हितों के विरुद्ध थी। इसी कारण उन्होंने धर्म को आधार बनाकर दोनों के बीच एक दरार पैदा कर दी।

अंग्रेज़ों ने नरमपंथियों और गरमपंथियों में फूट पैदा करने के लिए कुछ और भी घोषणाएँ कीं, जिनके माध्यम से वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि अंग्रेज़ सरकार भारत की माँगों के प्रति गंभीर है। उन्होंने सन् 1911 में बंगाल के विभाजन को रद्द करने की घोषणा की। साथ ही केन्द्र सरकार का मुख्यालय कलकत्ता से दिल्ली लाने की भी बात कही।

इसके बावजूद अंग्रेज़ों की ये घोषणाएँ नरमपंथी नेताओं को खुश नहीं कर सकीं। उन्होंने स्वयं को ठगा हुआ-सा महसूस किया। गरमपंथी तो पहले से ही इस तरह की किसी भी छिटपुट घोषणा के विरुद्ध थे। अंग्रेज़ों की इस घोषणा ने आगे से भारतीय जनता पर गरमपंथियों की पकड़ को मज़बूत ही बनाया।

## होम रूल लीग आंदोलन

भले ही भारत में स्वतंत्रता का जन-आंदोलन थम-सा गया था, लेकिन लोगों के अंदर विद्रोह का लावा उबल रहा था। वे इस प्रतीक्षा में थे कि कोई उनका नेतृत्व करे। नेतृत्व के इसी अभाव ने इस काल को सम्भ्रम का काल बना दिया था। नेतृत्वविहीन लोग अपने-अपने स्तर पर अपने-अपने आक्रोशों की अभिव्यक्ति कर रहे थे।

आखिरकार छह साल की लम्बी सज़ा काटने के बाद लोकमान्य तिलक जेल से बाहर आए। अब तक उनका नाम अत्यंत लोकप्रिय और देश भर में सम्मानित बन चुका था। बाहर की खामोशी से तिलक चौंके। उन्होंने इस सच्चाई को समझा कि देश में कोई भी जन-आंदोलन खड़ा करने के लिए काँग्रेस संगठन को पुनर्जीवित करना ज़रूरी है। कुछ भी हो, आखिर अब तक काँग्रेस ने अपनी स्थापना के तीस वर्ष पूरे कर लिये थे और उसके नेतृत्व में बंग-भंग के विरोध में एक ज़बरदस्त राष्ट्रव्यापी आंदोलन छेड़ा जा चुका था। ऐसी स्थिति में लोकमान्य तिलक ने मुख्य रूप से दो राजनीतिक कदम उठाए। पहले कदम के अंतर्गत उन्होंने अप्रैल, 1916 में बेलगाँव में हुए प्रांतीय सम्मेलन में होम रूल लीग के गठन की घोषणा की। चूँकि इस समय काँग्रेस पूरी तरह निष्क्रिय थी, इसलिए अड़सठ वर्षीय श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने भी अपनी एक अलग होम रूल लीग की स्थापना कर दी। इन दोनों संगठनों के बीच किसी तरह का कोई टकराव और दुराव न हो, इसलिए दोनों ने आपस में अपने-अपने कार्यक्षेत्रों का बँटवारा भी कर लिया। अब तिलक देश का दौरा करके होम रूल लीग का प्रचार करने लगे। इसी समय उन्होंने मराठी में छह और अंग्रेज़ी में दो पर्चे निकाले, ताकि उनका प्रचार-कार्य तेज़ हो सके। लीग की शाखाएँ भी खोली गईं। उस समय तक तिलक इतने लोकप्रिय हो गए थे कि उनके साठवें जन्मदिन पर जब समारोह का आयोजन किया गया, तो उन्हें एक लाख रुपए की थैली भेंट की गई।

दूसरी ओर ऐनी बेसेन्ट द्वारा स्थापित होम रूल लीग की दो सौ शाखाओं ने नगरों, कस्बों और गाँवों में अपना काम करना शुरू कर दिया। इनकी सारी गतिविधियों का एकमात्र लक्ष्य था- होम रूल की माँग के लिए व्यापक आंदोलन छेड़ना। इसने लाखों पर्चे बाँटकर तत्कालीन सरकार की पोल खोली। स्थान-स्थान पर जन-सभाएँ आयोजित की गईं।

दूसरा महत्वपूर्ण कदम यह हुआ कि जब सन् 1916 में काँग्रेस का लखनऊ में अधिवेशन हुआ, तो उसमें न केवल तिलक को काँग्रेस में फिर से शामिल कर लिया गया, बल्कि काँग्रेस के गरमपंथी और नरमपंथी

दल एक हो गए। सच तो यह है कि दस वर्षों तक अलग रहने के बाद इन दोनों दलों के नेताओं ने यह महसूस किया था कि इस तरह विभाजित होकर कोई भी अकेला जन-आंदोलन का नेतृत्व नहीं कर सकता।

लखनऊ के काँग्रेस अधिवेशन की एक दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि यह रही कि न केवल काँग्रेस के दोनों दल एक हो गए, बल्कि काँग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने ही लखनऊ पैक्ट किया और दोनों ने अपने मतभेदों को भुलाकर सरकार के सामने एक जैसी राजनीतिक माँगें रखीं। काँग्रेस और मुस्लिम लीग, दोनों संगठनों ने अपने-अपने अधिवेशन में यह प्रस्ताव पारित किया कि पृथक् निर्वाचन क्षेत्र पर आधारित राजनीतिक सुधार को स्वीकार कर लिया जाए और ब्रिटिश सरकार यह घोषणा करे कि वह जल्द ही भारत को स्वराज दे देगी।

## 'मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार' की घोषणा

हिन्दू और मुसलमानों की यह एकता ब्रिटिश सत्ता को परेशान करने वाली थी। इस एकता ने देशवासियों में पुनः उत्साह पैदा कर दिया था। ऐसे समय में अंग्रेज़ों ने यह नीति अपनायी कि किसी तरह राष्ट्रवादियों को संतुष्ट करके जन-उत्साह को कम किया जाए। इसी दृष्टि से सन् 1917 में यह घोषणा की गई कि भारत में ब्रिटेन की नीति यह रहेगी कि यहाँ धीरे-धीरे स्वायत्त संस्थाओं का विकास किया जाए। इसी घोषणा की पूर्ति के लिए एक साल बाद (सन् 1918 में) 'मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार' की घोषणा की गई, लेकिन तब तक भारतीय नेताओं की स्वराज की आकांक्षा इतनी आगे बढ़ चुकी थी कि ये छोटे-छोटे सुधार राष्ट्रवादियों को संतुष्ट नहीं कर सके। दूसरी ओर ब्रिटिश सरकार की क्रूर दमन नीति पहले की तरह ही जारी थी। 'भारत रक्षा अधिनियम' बनाया गया। अनेक राष्ट्रवादियों और क्रांतिकारियों को जेल में डाल दिया गया। इससे जनता में अंग्रेज़ी सत्ता के विरुद्ध आवाज़ उठाने की भावना और सुदृढ़ हुई। सन् 1918 तक पहुँचते-पहुँचते होम रूल लीग का आंदोलन भी कमज़ोर पड़ गया।

निश्चित रूप से मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार योजना की घोषणा से राष्ट्रवादियों के बीच कुछ तो दरार पड़ी। इसके बावजूद यह कहना गलत नहीं होगा कि होम रूल लीग के आंदोलन की सबसे बड़ी सफलता यह रही कि इसने भविष्य के संघर्ष के लिए योद्धा तैयार कर दिए थे। एक ऐसी राष्ट्रव्यापी पृष्ठभूमि तैयार हो गई थी, जिसके मन और मस्तिष्क में 'स्वराज' शब्द गूँजने लगा था। उस भावना की नींव पड़ चुकी थी, जो अपने राज की माँग की पूर्ति से कम में संतुष्ट होने वाली नहीं थी। होम रूल आंदोलन ने पूरे देश में जो एक जीवन्त वातावरण तैयार कर दिया था, वही महात्मा गांधी को विरासत के रूप में मिला, जिससे वे अपना जुझारू आंदोलन शुरू कर सके। इस आंदोलन ने उत्तरप्रदेश, गुजरात, मद्रास, सिंध आदि उन नये क्षेत्रों को भी राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल कर दिया, जहाँ अभी तक विशेष हलचल नहीं हुई थी। एक प्रकार से स्वराज की माँग संबंधी इस आंदोलन ने आज़ादी की माँग को देश के कोने-कोने तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसी के बीच जब महात्मा गांधी के सत्याग्रह का शंखनाद हुआ, तो वह पूरे देश में गूँज उठा।

## विश्वयुद्ध से उपजी आशा-निराशा

इस बीच सन् 1914 में प्रथम विश्वयुद्ध शुरू हुआ। इस युद्ध में एक तरफ थे- ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, इटली, रूस और जापान तथा दूसरी तरफ थे- जर्मनी, ऑस्ट्रिया, हंगरी और तुर्की। असल में यह दूसरे देशों में अपने उपनिवेश स्थापित करने की लड़ाई थी। उस समय किसी भी देश की प्रतिष्ठा, शक्ति और उसका आर्थिक विकास इस बात पर निर्भर करता था कि उसके पास कितने अधिक उपनिवेश हैं।

भारत के नेताओं ने इस युद्ध में ब्रिटेन का समर्थन करने का फैसला किया। उनका मानना था कि यदि भारत ने ब्रिटेन के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की, तो उससे ब्रिटेन अहसानमंद होकर भारत को जल्दी आज़ाद कर देगा। लेकिन उनका यह सोचना गलत सिद्ध हुआ। सन् 1919 में जब

प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हुआ, तब ब्रिटेन ने ऐसी कोई विशेष घोषणा नहीं की जिससे भारतीय नेताओं को थोड़ी बहुत राहत मिल सके। इस प्रकार स्वराज की भावना के उबाल पर ब्रिटेन सरकार ठंडे पानी के छींटे देने में असफल रही।

प्रथम विश्वयुद्ध का भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन पर काफी प्रभाव पड़ा। इस युद्ध के कारण एशिया और अफ्रीका महाद्वीप में राष्ट्रवाद की लहर फैली। इन महाद्वीपों के अधिकांश देश उपनिवेशवाद के शिकार थे। ये गुलाम देश स्वराज के लिए छटपटाने लगे। इन देशों को आशा थी कि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद स्वराज की उनकी माँग पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जाएगा, लेकिन उन्हें निराशा हाथ लगी।

जब पहला विश्वयुद्ध जारी ही था, तभी सन् 1917 में रूस में एक क्रांति हुई। रूसी नेता लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी ने रूस में जार का तख़्ता पलट दिया। इस क्रांति ने गुलाम देशों के लोगों को यह संदेश दिया कि किसी भी देश की जनता के अंदर अपार शक्ति छिपी होती है और यदि उसे संगठित किया जाए, तो उससे बड़े से बड़े निरंकुश शासक के तख़्ते को पलटा जा सकता है। भारतीय जनता इससे उत्साहित हुई और उसके अंदर राष्ट्रवाद की लहरें हिलोरें भरने लगीं।

ੴ

# 10 महात्मा गांधी का प्रवेश

अध्याय

सन् 1915 में जब महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे, तब वे 46 वर्ष के थे। वे करीब 22 वर्ष तक दक्षिण अफ्रीका में रहे। उस समय दक्षिण अफ्रीका पर भी ब्रिटेन का ही अधिकार था। वहाँ के गोरे अंग्रेज़ काले लोगों के विरुद्ध भेदभावपूर्ण नीति अपनाते थे। महात्मा गांधी सबसे पहले दक्षिण अफ्रीका की नस्लवादी नीतियों के विरुद्ध संघर्ष में जुट गए। वहाँ उनको काफी समय तक सफलता भी मिली। सत्याग्रह और अहिंसा जैसे साधनों के प्रयोग उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में ही किए। हालाँकि इस बीच भारत के स्वतंत्रता आंदोलन से उनका कोई सीधा संबंध नहीं था, किन्तु भारतीय नेता दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी द्वारा किए जाने वाले संघर्ष से परिचित थे। इसलिए जब गांधी जी भारत लौटे, तो उन्हें किसी को अपना परिचय देने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

भारत लौटने के एक साल के अंदर ही उन्होंने सबसे पहले अहमदाबाद में साबरमती आश्रम की स्थापना की। ऐसा उन्होंने इसलिए किया, क्योंकि वे चाहते थे कि स्वतंत्रता आंदोलन में शामिल होने से पहले देश की स्थितियों की अच्छी तरह से जानकारी प्राप्त कर ली जाए। गोपालकृष्ण गोखले ने भी उन्हें ऐसा करने की सलाह दी थी। साथ ही वे यह भी चाहते थे कि वे अपने लिए कुछ ऐसे लोगों को तैयार करें, जो उनकी नीतियों के अनुसार काम कर सकें। इसलिए उन्होंने आश्रम की स्थापना की और वहाँ सत्य और अहिंसा के आदर्शों की शिक्षा दी जाने लगी। स्वयं गांधी जी रेल

के तीसरे दर्जे में सफर करते हुए देश भर में घूम-घूम कर उसके मर्म का जायज़ा लेने लगे।

## चम्पारण सत्याग्रह

अभी गांधी जी को भारत आए दो ही वर्ष हुए थे कि उन्हें बिहार के चम्पारण जिले में जाना पड़ा। यहाँ की समस्या बहुत पुरानी थी। वहाँ के गोरे बागान मालिकों ने किसानों से एक ऐसे करार पर दस्तखत करा लिये थे, जिसके अनुसार किसानों को अपनी ज़मीन के 3/20वें हिस्से पर नील की खेती करना अनिवार्य था। चूँकि किसानों को इससे तनिक भी लाभ नहीं होता था, इसलिए किसान इस अनुबंध से मुक्त होना चाहते थे, लेकिन गोरे मालिक इस बात के लिए तैयार नहीं थे।

भारत के लोग दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी द्वारा छेड़े गए आंदोलनों से परिचित थे। इसलिए चम्पारण के किसानों ने अपनी स्वतंत्रता के लिए गांधी जी को बुलाने का फैसला किया। गांधी जी शुरू में तो थोड़ा झिझके, किन्तु किसानों के बार-बार आग्रह करने के कारण अंत में सन् 1917 में वहाँ जाने को तैयार हो गए।

गांधी जी जैसे ही चम्पारण पहुँचे, वैसे ही कमीशन ने उन्हें वहाँ से तुरन्त चले जाने का आदेश दिया, लेकिन गांधी जी ने यह आदेश मानने से साफ-साफ इनकार कर दिया। गांधी जी का यह निर्णय भारत के नेताओं को चौंकाने वाला था। गांधी जी की नीति यह थी कि यदि उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया, तो इससे चम्पारण के लोगों में आक्रोश फैल जाएगा जिसके कारण अंग्रेज़ सरकार परेशान होगी, और यदि गिरफ्तार नहीं किया गया तो वे अपना काम कर सकेंगे। दोनों ही स्थितियों में उन्हें फायदा था। अंग्रेज़ सरकार गांधी जी की इस नीति को ताड़ गई। फलस्वरूप उसने अपना आदेश वापस लेकर गांधी जी को गाँव में जाने की अनुमति दे दी। भारत पहुँचने के बाद गांधी जी की यह पहली जीत थी।

अब गांधी जी राजेन्द्र प्रसाद, महादेव देसाई तथा जे.बी. कृपलानी जैसे महत्वपूर्ण नेताओं के साथ मिलकर अपने काम में लग गए। वे गाँव-

गाँव जाते और वहाँ से किसानों के बयान दर्ज करते। उन्होंने करीब आठ-सौ किसानों के बयान दर्ज किए।

स्थिति को देखकर अंग्रेज़ सरकार ने भी एक जाँच आयोग बिठा दिया। गांधी जी उसके सदस्य बनाए गए। उन्होंने आयोग को यह समझाया कि नील की खेती की पद्धति समाप्त की जानी चाहिए। आखिर में किसानों की शिकायतों को दूर करने के लिए कदम उठाए गए और इस प्रकार भारत में गांधी जी का पहला 'सविनय अवज्ञा आंदोलन' सफल हो गया। देखते ही देखते इस आंदोलन की सफलता की चर्चा पूरे देश में होने लगी।

## अहमदाबाद के मज़दूरों की हड़ताल

चम्पारण आंदोलन के एक साल बाद ही गांधी जी को अहमदाबाद के मिल-मालिकों और मज़दूरों के बीच चल रहे तनाव में हस्तक्षेप करना पड़ा। समस्या यह थी कि वहाँ के मिल-मालिकों और मज़दूरों के बीच प्लेग के समय दिए जाने वाले बोनस को लेकर गतिरोध पैदा हो गया था। मालिकों का कहना था कि जब प्लेग समाप्त हो गया है, तो प्लेग संबंधी बोनस दिए जाने का कोई सवाल नहीं उठता, जबकि मज़दूरों का कहना था कि प्रथम विश्वयुद्ध के कारण महँगाई बहुत बढ़ गई है, इसलिए उन्हें बोनस मिलता रहना चाहिए। ब्रिटिश सरकार ने इस बारे में गांधी जी से हस्तक्षेप करने के लिए कहा। गांधी जी ने दोनों पक्षों को समझाकर इस बात के लिए तैयार किया कि इस मामले को न्यायालय को सौंप दिया जाए, लेकिन बाद में मालिकों ने हड़ताल का बहाना करके इससे अपने को अलग कर लिया। इससे गांधी जी को बहुत दुःख हुआ। फलस्वरूप उन्होंने मज़दूरों को हड़ताल करने के लिए कहा और उनकी 35 प्रतिशत बोनस दिए जाने की माँग की वकालत की। इस मामले में गांधी जी ने खुद अनशन किया। स्थिति को देखते हुए मिल-मालिक झुके और मामले को न्यायालय को सौंपने को तैयार हो गए। बाद में न्यायालय ने 35 प्रतिशत बोनस देने का निर्णय सुनाया। इस प्रकार इस दूसरे आंदोलन में भी गांधी

जी सफल रहे। पहले आंदोलन ने उन्हें किसानों का हितैषी बना दिया था, तो इस दूसरे आंदोलन ने उन्हें मज़दूरों का हितैषी घोषित कर दिया।

## खेड़ा सत्याग्रह

यह गांधी जी का तीसरा आंदोलन था। गुजरात के खेड़ा जिले के किसानों की फसल नष्ट हो गई थी। इसके बावजूद सरकार उनसे मालगुज़ारी वसूल कर रही थी। किसानों की माँग थी कि मालगुज़ारी माफ कर दी जाए, लेकिन सरकार यह बात नहीं मान रही थी। गांधी जी ने अन्य कुछ नेताओं के साथ मिलकर जाँच-पड़ताल के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि किसानों की माँग जायज़ है। उन्होंने किसानों से कहा कि वे लगान न दें और सरकार की दमनकारी नीतियों के विरुद्ध जुझारू संघर्ष करें। किसानों पर इसका प्रभाव पड़ा। इसी बीच स्थिति को देखकर सरकार ने भी यह निर्देश दिया कि लगान उन्हीं से वसूल किया जाए, जिनकी आर्थिक स्थिति लगान देने लायक हो। गांधी जी भी यही चाहते थे। इस प्रकार कठिन संघर्ष के बिना ही गांधी जी का यह आंदोलन सफल हो गया।

इन तीनों आंदोलनों ने गांधी जी को राष्ट्रीय स्तर पर लोकप्रिय बना दिया। उन्हें लोग श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। गांधी जी को भी इन आंदोलनों के कारण देश की जनता के नज़दीक आकर उनकी समस्याओं को समझने का मौका मिला। इससे वे यह अनुमान लगाने में भी सफल रहे कि वे भविष्य के अपने आंदोलनों में सफल रहेंगे या नहीं और उन्हें भारत में अपनी रणनीति किस प्रकार बनानी चाहिए। इन तीनों आंदोलनों के कारण गांधी जी देश की जनता की शक्ति और कमज़ोरी, दोनों से ही परिचित हो गए थे।

## रोलट एक्ट

सन् 1919 में सरकार ने एक ऐसा अधिनियम पारित किया, जिसने एक बार फिर से पूरे देश को आक्रोश से भर दिया। भारतीय इतिहास में यह अधिनियम 'रोलट एक्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। यह अधिनियम जिस

समिति की रिपोर्ट पर आधारित था, उसके अध्यक्ष का नाम रोलट था, इसलिए इसका नाम रोलट एक्ट पड़ा। इस अधिनियम के द्वारा सरकार को युद्ध में दमनकारी शक्तियाँ प्रदान की गईं। चूँकि उस समय प्रथम विश्वयुद्ध जारी था, इसलिए सरकार नहीं चाहती थी कि भारत में उसके विरुद्ध कोई भी आंदोलन हो। इस अधिनियम में यहाँ तक व्यवस्था की गई कि किसी भी व्यक्ति को बिना मुकदमा चलाए कैद में डाला जा सकता था।

भारतीयों के लिए यह अधिनियम चौंकाने वाला था। इसके विरोध में केन्द्रीय विधायिका परिषद् के तीनों भारतीय सदस्यों –मदनमोहन मालवीय, मोहम्मद अली जिन्ना और मज़रुल हक– ने त्याग-पत्र दे दिया।

देखते ही देखते इस अधिनियम के विरोध में सारे देश में आक्रोश फैल गया। चूँकि अब तक गांधी जी लोकप्रिय हो चुके थे, इसलिए उन्हें एक राष्ट्रव्यापी आंदोलन छेड़ने की ज़िम्मेदारी दी गई। गांधी जी ने एक सभा का गठन करके सत्याग्रह शुरू करने का सुझाव दिया। इसके लिए होम रूल लीग के सदस्यों से सम्पर्क किया गया। देखते ही देखते देश के बहुत से भागों में प्रदर्शन, हड़ताल, जन-सभाएँ, उपवास और प्रार्थना-सभाएँ होने लगीं। कुछ विशेष कानूनों की भी अवज्ञा करने का निर्णय लिया गया। सरकार क्रूरता से इन सबका दमन करने लगी।

अमृतसर-लाहौर की जनता बहुत अधिक उत्तेजित थी। वहाँ की स्थिति को नियंत्रित कर पाना मुश्किल हो रहा था। हालाँकि गांधी जी ने पंजाब जाकर लोगों को समझाने-बुझाने का फैसला किया, लेकिन सरकार ने उन्हें पंजाब में घुसने से रोक दिया। लेकिन पंजाब की घटनाएँ हिंसक मोड़ ले चुकी थीं। वहाँ के लोकप्रिय नेता सैफुद्दीन किचलू और डॉ. सत्यपाल को गिरफ्तार कर लिया गया था। इस गिरफ्तारी के विरोध में सारा पंजाब उफन रहा था। वहाँ के टाउनहॉल और पोस्ट-ऑफिस पर हमले किए गए। टेलीग्राफ के तार काट दिए गए और गोरे लोगों को मारा-पीटा गया। इस गंभीर स्थिति को देखकर प्रशासन ने सेना बुलाकर नगर को जनरल डायर के हाथों सौंप दिया। जनरल डायर ने जनसभाएँ

आयोजित करने पर प्रतिबंध लगा दिया।

लेकिन जनता के ऊपर जनरल डायर के इस आदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। 13 अप्रैल, 1919 को वैशाखी का दिन था। उस दिन जलियांवाला बाग में एक विशाल सभा आयोजित की गई। गाँव और कस्बों से लोग वैशाखी के मेले में भाग लेने आने लगे। जनरल डायर को यह लगा कि यह उसके आदेश की अवहेलना है। फलस्वरूप वह सभास्थल पर पहुँचा और निहत्थी जनता पर गोली चलाने का आदेश दे दिया।

जलियांवाला बाग तीन ओर से घिरा हुआ एक खुला मैदान था। उसमें केवल एक ही छोटा-सा निकास द्वार था। इस निकास द्वार पर फौजी सैनिक खड़े हो गए। जनता को चारों ओर से फौजियों ने घेर लिया और अचानक जनरल डायर ने निहत्थी जनता पर गोली चलाने का आदेश दे दिया। यहाँ तक कि उसने गोली चलाने से पहले चेतावनी तक देना ठीक नहीं समझा। जब तक राइफलों और मशीनगनों की गोलियाँ खत्म नहीं हो गईं, तब तक फायरिंग होती रही। दस मिनट तक निहत्थी जनता इस क्रूरता की शिकार होती रही। लोगों के लिए भागने का कोई रास्ता नहीं था। ज़्यादातर लोग गोलियों से मरे और बहुत से लोग भगदड़ के कारण। हालाँकि सरकारी आँकड़ों के अनुसार 379 लोग मारे गए थे, वास्तव में यह संख्या हज़ारों के ऊपर थी।

इस नृशंस हत्याकाण्ड से पूरा देश स्तब्ध रह गया। लोगों की आँखों में खून उतर आया। गांधी जी ने महसूस किया कि पूरे देश का वातावरण हिंसात्मक होने जा रहा है। गांधी जी किसी भी हिंसात्मक आंदोलन के पक्ष में नहीं थे। फलस्वरूप 18 अप्रैल को उन्होंने आंदोलन वापस ले लिया।

सन् 1905 के बंगाल-विभाजन के बाद जलियांवाला बाग काण्ड दूसरी बड़ी घटना थी, जिसने उपनिवेशवादी सत्ता के प्रति भारतीय लोगों के मन में घृणा का भाव पैदा कर दिया। इस घटना के कारण सारा देश एक जैसी भावना से जुड़ गया। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जलियांवाला बाग

काण्ड के प्रति अपना विरोध प्रकट करने के लिए अपना खिताब वापस कर दिया। अपने को सभ्य कहने वाली अंग्रेज़ जाति की यह क्रूर सभ्यता भारत ने ही नहीं, बल्कि पूरे विश्व ने देख ली थी। अब अंग्रेज़ों का चेहरा भारतीय जनता के सामने बहुत साफ हो चुका था।

## खिलाफत आंदोलन

खिलाफत आंदोलन के प्रारंभ होते ही देश में राष्ट्रवादी आंदोलन की एक नयी धारा आई। अब तक पश्चिमी शिक्षा और प्रभाव के कारण देश में एक ऐसा शिक्षित मुस्लिम वर्ग उभर आया था, जो अपने दृष्टिकोण में प्रगतिशील था। वह अपनी पुरानी परम्पराओं से निकलकर नये वातावरण में साँस लेना चाहता था। इसके साथ ही सन् 1916 में लखनऊ में काँग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच जो समझौता हुआ, उसके कारण यह संभावना बन गई थी कि भविष्य के किसी भी आंदोलन में हिन्दू और मुसलमान, दोनों मिलकर भाग लेंगे।

सौभाग्यवश यह अवसर खिलाफत आंदोलन ने उपलब्ध करा दिया। सन् 1919 में प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हुआ। इसमें एक ओर ब्रिटेन था और दूसरी ओर टर्की। इस विश्वयुद्ध में टर्की पराजित हुआ था। इसके कारण टर्की का विभाजन किया गया। ब्रिटेन ने इस विभाजन में भाग लिया। इसके कारण भारत में रहने वाले मुसलमानों की भावना को आघात पहुँचा।

असल में बात यह थी कि तुर्की के सुल्तान की स्थिति धार्मिक प्रधान (खलीफा) की स्थिति थी। मुसलमानों ने टर्की के विभाजन को अपने खलीफा का अपमान समझा। वे यह महसूस करने लगे कि ब्रिटेन ने जान-बूझकर टर्की के खलीफा को कमज़ोर बनाया है। ऐसी स्थिति में भारत के अली बन्धुओं -मौलाना आज़ाद, हकीम अजमल खाँ और हसरत मोहानी- के नेतृत्व में एक खिलाफत कमेटी बनी और देशव्यापी आंदोलन का आयोजन किया गया। अखिल भारतीय खिलाफत सम्मेलन में यह फैसला किया गया कि जब तक सरकार उनकी माँगों को नहीं मानेगी, तब तक मुसलमान सरकार के साथ कोई सहयोग नहीं करेंगे।

महात्मा गांधी और तिलक ने खिलाफत आंदोलन को एक ऐसे अवसर के रूप में देखा, जबकि हिन्दू और मुसलमानों में घनिष्ठ एकता स्थापित की जा सकती थी। इसलिए हिन्दू नेताओं ने भी खिलाफत आंदोलन का समर्थन करने की घोषणा की। गांधी जी ने यहाँ तक कहा कि खिलाफत का प्रश्न संवैधानिक सुधार तथा पंजाब के ज़ुल्मों के प्रश्न से भी अधिक महत्वपूर्ण है। लगभग इसी समय देश में असहयोग आंदोलन भी शुरू हो रहा था। इस प्रकार खिलाफत आंदोलन और असहयोग आंदोलन बेशक साथ-साथ शुरू हुए, लेकिन खिलाफत आंदोलन लम्बे समय तक नहीं चला। सन् 1922 में मुस्तफा कमाल पाशा के नेतृत्व में तुर्की के लोगों ने सुल्तान से राजनीतिक सत्ता छीन ली। कमाल पाशा ने तुर्की को एक प्रगतिशील आधुनिक राष्ट्र बनाने की घोषणा की। धर्म को राज्य से अलग कर दिया गया। खलीफा का पद समाप्त कर दिया गया। राज्य में यूरोप जैसा कानून लागू किया गया। शिक्षा को राज्य ने अपने हाथ में ले लिया। नारियों को अधिकार दिए गए। राज्य में नये उद्योग स्थापित किए जाने लगे। इस प्रकार तुर्की में परिवर्तन होने के कारण भारत में भी खिलाफत आंदोलन की प्रासंगिकता समाप्त हो गई।

भारतीय इतिहास में खिलाफत आंदोलन का सबसे महत्वपूर्ण योगदान यह है कि उसने शहर के मुसलमानों को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ दिया। मुसलमानों के बीच राष्ट्रीयता की भावना भरने में इसने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

## असहयोग आंदोलन

सन् 1920 का वर्ष भारतीय जनता के लिए घोर निराशा का वर्ष था। भारतीय यह मानकर चल रहे थे कि प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद ब्रिटेन उनकी स्वराज्य की माँग की दिशा में कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाएगा।

कहाँ तो जनता यह आशा किए हुए थी और कहाँ उसे उसके बदले में रोलट एक्ट और जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड जैसे आघात मिले। इसी समय, सन् 1919 में मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों से भी जनता की व्याकुलता

बढ़ी। मुसलमानों को भी यह लगने लगा कि उनके साथ धोखा किया गया है, क्योंकि टर्की के विभाजन में ब्रिटेन ने भी भूमिका निभाई थी। इस प्रकार सन् 1920 तक ऐसी स्थिति बन गई थी कि यदि कोई वामपंथी नेता अंग्रेज़ों के पक्ष में एक भी तर्क जुटाना चाहे तो ऐसा करना शायद उसके लिए संभव नहीं हो पाता।

प्रथम विश्वयुद्ध के कारण भारत में महँगाई बहुत बढ़ गई थी। गाँवों के लोग सूखे, महामारी और प्लेग से जूझते हुए मौत के शिकार हो रहे थे। इसके बावजूद अंग्रेज़ों का दमन कम नहीं हुआ था। भारतीय नेताओं को यह साफ दिख रहा था कि जनता के अंदर विद्रोह की भावना ज़ोर मार रही है। आवश्यकता सिर्फ उसे एक दिशा देने भर की थी। सन् 1920 के ऐसे माहौल में इसे नेतृत्व प्रदान करने की ज़िम्मेदारी गांधी जी ने उठाई। 22 जून, 1920 को गांधी जी ने वायसराय को नोटिस देते हुए लिखा कि ''कुशासन करने वाले शासक को सहयोग देने से इनकार करने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को है।'' एक अगस्त, 1920 को दो घटनाएँ एक साथ हुईं। इसी दिन तिलक का निधन हो गया। उनके निधन पर देश ने शोक मनाया और इसीलिए पूरे देश में असहयोग आंदोलन के दीये तले हड़ताल हुई, प्रदर्शन किए गए, प्रार्थना सभाएँ आयोजित की गईं और लोगों ने उपवास रखा।

यह फैसला किया गया कि स्कूलों, कॉलेजों और अदालतों का बहिष्कार किया जाएगा। गांधी जी को प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान अंग्रेज़ सरकार ने 'हिन्द केसरी' का जो खिताब दिया था, उसे उन्होंने वापस कर दिया। जल्दी ही गांधी जी के इस कार्यक्रम को काँग्रेस ने भी अपना लिया। गाँवों और कस्बों में काँग्रेस की समितियाँ गठित की गईं और उन्हें आंदोलन के लिए कहा गया। लाला लाजपतराय के नेतृत्व में पंजाब में शिक्षा का बहिष्कार किया गया। बहिष्कार का एक महत्वपूर्ण पक्ष था–विदेशी कपड़े का बहिष्कार करना। आंदोलनकारी कार्यकर्ता घर-घर जाकर विदेशी कपड़े इकट्ठे करते और लोगों के बीच उन कपड़ों की होली जला दी जाती। गांधी जी के कहने पर लोग घर के अंदर विदेशी कपड़े

से बने परिधान, टोपियाँ और दुपट्टे उतार देते। विदेशी कपड़ों के बहिष्कार का स्थान जल्दी ही खादी ने ले लिया। अब खादी राष्ट्रीय आंदोलन की पोशाक बन गई।

इसी समय शराब की दुकान पर धरना देने का कार्यक्रम बहुत अधिक लोकप्रिय हुआ। विशेषकर महिलाएँ शराब की दुकानों के सामने धरना देकर बैठ जातीं। जब कोई व्यक्ति शराब खरीदने आता, तो उससे ऐसा न करने का अनुरोध करतीं। इसके कारण सरकार का बहुत आर्थिक नुकसान हुआ।

आंदोलन के लिए धन इकट्ठा करना बहुत ज़रूरी था। इसके लिए 'तिलक स्वराज फण्ड' की स्थापना की गई, जिसमें देखते ही देखते एक करोड़ रुपए से भी अधिक धन इकट्ठा हो गया। काँग्रेस के सदस्यों की संख्या भी पचास लाख तक पहुँच गई। काँग्रेस की सदस्यता के लिए उम्र की सीमा इक्कीस वर्ष से घटाकर अठारह वर्ष कर दी गई। काँग्रेस के सदस्यों से वार्षिक चन्दे के रूप में चार आने लेने की व्यवस्था की गई।

इसी समय हज़ारों छात्रों ने सरकारी स्कूल छोड़कर राष्ट्रीय स्कूलों में प्रवेश लिया। जामिया मिलिया इस्लामिया, बिहार विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ और गुजरात विद्यापीठ आदि शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना की गई। इनका मूल उद्देश्य छात्रों में राष्ट्रीयता की भावना पैदा करना था।

अपने विरुद्ध आक्रोश का भाव देखकर ब्रिटिश सरकार ने एक नया फैसला किया। उसने ब्रिटिश राजसिंहासन के उत्तराधिकारी प्रिंस ऑफ वेल्स से यह अनुरोध किया कि वे भारत आएँ, ताकि भारत की जनता और राजाओं के मन में राजसिंहासन के प्रति निष्ठा पैदा की जा सके। प्रिंस ऑफ वेल्स ने यह अनुरोध स्वीकार कर लिया और 17 नवम्बर, 1921 को वे पानी के जहाज़ द्वारा बम्बई पहुँचे। सरकार ने उनके स्वागत के लिए समुद्र के किनारे 'गेटवे ऑफ इंडिया' बनाया, लेकिन अंग्रेज़ों की यह नीति सफल नहीं हो सकी। जिस दिन प्रिंस ऑफ वेल्स ने बम्बई की धरती पर कदम रखा, उसी दिन पूरे भारत में हड़ताल की गई। विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई। बम्बई में तीन दिन तक हिंसात्मक वारदातें

होती रहीं। प्रिंस ऑफ वेल्स जहाँ-जहाँ गए, उन्हें केवल वीरान सड़कें और बंद दरवाज़े ही मिले। भारतीय जनता की ऐसी एकता देखकर राष्ट्रीय नेताओं के हौसले बुलंद हो गए।

## चौराचौरी काण्ड

खिलाफत आंदोलन और असहयोग आंदोलन की सफलता के कारण गांधी जी पर यह दबाव पड़ने लगा कि वे राष्ट्रीय स्तर पर एक सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ें। इस आंदोलन में मुख्य रूप से अंग्रेज़ों के बनाए नियम-कानूनों की अवहेलना करने की बात शामिल थी। ऐसी स्थिति में गांधी जी ने सरकार को एक पत्र लिखकर चेतावनी दी कि यदि सरकार नागरिक स्वतंत्रता बहाल नहीं करेगी और राजनीतिक बंदियों को रिहा नहीं करेगी, तो पूरे देश में सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ दिया जाएगा। जब अंग्रेज़ सरकार पर इस चेतावनी का कोई असर नहीं हुआ, तो गांधी जी ने मजबूर होकर सविनय अवज्ञा आंदोलन की घोषणा कर दी। उन्होंने जनता से अपील की कि यह आंदोलन पूरी तरह से अहिंसक होगा, लेकिन दुर्भाग्य से आंदोलन अहिंसक नहीं रह सका। पाँच फरवरी, 1922 को उत्तरप्रदेश के देवरिया जिले में काँग्रेस और खिलाफत आंदोलनकारियों का एक जुलूस निकला। इसमें करीब तीन हज़ार लोग शामिल थे। कुछ पुलिस वालों ने लोगों के साथ दुर्व्यवहार किया। इसके कारण जुलूस के कुछ लोगों ने पुलिस पर धावा बोल दिया। बदले में पुलिस ने गोलियाँ चलाईं। इससे लोग उत्तेजित हो गए और उन्होंने पुलिस पर हमले कर दिए। जब सिपाही भागकर थाने में घुस गए, तब भीड़ ने थाने में आग लगा दी। जो सिपाही थाने से भाग निकले, उन्हें भीड़ ने मारकर आग में फेंक दिया। चौराचौरी की इस घटना में 22 पुलिस वाले मारे गए।

इस घटना की खबर मिलते ही गांधी जी अत्यन्त दुःखी हुए। उन्होंने 12 फरवरी, 1922 को असहयोग आंदोलन समाप्त करने की घोषणा कर दी।

गांधी जी की इस आकस्मिक घोषणा से सारा देश स्तब्ध हो गया। चूँकि आंदोलन अपने पूरे उफान पर था, इसलिए ऐसे समय पर आंदोलन

को स्थगित किए जाने से काँग्रेस का मनोबल टूट-सा गया। सुभाष चन्द्र बोस जैसे लोकप्रिय और युवा नेता ने गांधी जी की इस घोषणा की तीखी आलोचना की। इन नेताओं को यह समझ में नहीं आ रहा था कि आखिर एक घटना की सज़ा पूरे देश को क्यों दी जा रही है। कुछ लोगों ने गांधी जी को समझाने की कोशिश की, लेकिन गांधी जी अपने निर्णय से टस से मस नहीं हुए। गांधी जी ने बार-बार यही कहा कि मेरा आंदोलन अहिंसक है, हिंसक नहीं है।

वस्तुत: गांधी जी ने असहयोग आंदोलन को स्थगित करने का फैसला अपनी रणनीति के अनुसार ही किया था। वे यह देख रहे थे कि अंग्रेज़ सत्ता शक्ति से युक्त है, आंदोलन के हिंसक होते ही उसे शक्ति का उपयोग करने का बहाना मिल जाएगा और ऐसी स्थिति में यदि असहयोग आंदोलन को जारी रखा गया, तो पूरे देश में लोगों का इतने क्रूर तरीके से दमन किया जाएगा कि भारतीय जनता का मनोबल टूट सकता है। चूँकि वे सत्ता के साथ हथियारबंद संघर्ष नहीं छेड़ना चाहते थे, इसलिए उन्होंने आंदोलन को स्थगित करने का निर्णय लिया।

यह आंदोलन भले ही असफल रहा, लेकिन इसमें कोई दो मत नहीं कि उससे राष्ट्रीय आंदोलन और अधिक मज़बूत हुआ। राष्ट्रीय भावनाएँ अब दूर-दूर के गाँवों तक पहुँच गई थीं। शिक्षित भारतीयों ने भारतीय जनता की शक्ति को तौल लिया था और उन्हें लगने लगा था कि भारतीय जनता पर भरोसा किया जा सकता है। साथ ही भारतीय जनता में एक नये आत्मविश्वास का जन्म हुआ और उसके मन से हुकूमत का भय निकल गया। निश्चित रूप से यह आंदोलन स्वतंत्रता-प्राप्ति की दिशा में एक लम्बा कदम था।

ꕥ

अध्याय 11

# धीमी गति का काल

महात्मा गांधी ने चौराचौरी काण्ड के बाद असहयोग आंदोलन स्थगित कर दिया। मज़ेदार बात यह कि इसके एक महीने बाद ही सरकार के विरुद्ध आंदोलन भड़काने के आरोप में गांधी जी को छः साल के लिए जेल भेज दिया गया। पहले कारण से जहाँ जनता का मनोबल गिरा, वहीं दूसरे कारण से नेताओं में भी निराशा घर करने लगी। जो नेता जेल से बाहर थे, उनमें गंभीर मतभेद पैदा होने लगे। ऐसा माना जाने लगा कि अब स्वतंत्रता संघर्ष का जोश पूरी तरह बिखर जाएगा।

## स्वराजवाद

इसी समय भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के क्षितिज पर दो ऐसे राष्ट्रवादी नेता उभरे, जिन्होंने औपनिवेशिक सत्ता का विरोध करने की भावना को जीवित रखने के लिए एक नयी रणनीति तैयार की। इनकी यह रणनीति विरोध करने की रणनीति थी। इनका मानना था कि राष्ट्रवादी आंदोलनकारियों को विधान परिषदों का सदस्य बनना चाहिए। परिषद् में शामिल होकर परिषद् के कामों में रुकावट डालना चाहिए तथा औपनिवेशिक सत्ता के नकाब का पर्दाफाश करना चाहिए। जब काँग्रेस पार्टी ने इनके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया, तब चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू ने काँग्रेस से त्याग-पत्र दे दिए और सन् 1923 में 'काँग्रेस खिलाफत स्वराज पार्टी' बनाई। इसी को बाद में 'स्वराज पार्टी' के नाम से जाना गया है।

नवम्बर, 1923 में विधान परिषदों के चुनाव हुए। इनमें स्वराज पार्टी को अच्छी सफलता मिली। कुल 101 निर्वाचन सीटों में से 42 सीटों पर

स्वराज पार्टी के सदस्य जीते। इनकी एक अन्य उल्लेखनीय सफलता यह रही कि वे अपने नेता विट्ठलभाई पटेल को केन्द्रीय विधायिका परिषद् का अध्यक्ष बनवाने में सफल रहे।

अब स्वराज पार्टी के नेताओं ने हर मामले में सरकार का विरोध करना प्रारंभ किया। उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण मामलों को प्रभावशाली तरीकों से उठाया। इन नेताओं ने तीन महत्वपूर्ण मुद्दों पर सरकार और देश का ध्यान आकर्षित किया। ये मुद्दे थे– भारत में स्वराज की स्थापना के लिए संविधान में परिवर्तन किया जाना; नागरिक स्वतंत्रता की बहाली के लिए राजनीतिक कैदियों की रिहाई; और दमनकारी कानूनों का समाप्त किया जाना तथा देसी उद्योगों का विकास किया जाना। परिषद् में यदि कोई प्रस्ताव अस्वीकार भी हो जाता था, तो सरकार के पास उसे पारित करने का विशेषाधिकार मौजूद था और ऐसा कई बार हुआ भी कि सरकार को मुँह की खानी पड़ी, किन्तु इन बातों का लोक–चेतना पर अच्छा प्रभाव पड़ता था।

दुर्भाग्यवश सन् 1925 में चितरंजन दास का निधन हो जाने के कारण स्वराज पार्टी को गहरा धक्का लगा। इसी समय साम्प्रदायिक शक्तियाँ भी मज़बूत होने लगीं। सरकार की भी कोशिश रही कि इन राष्ट्रवादी नेताओं के बीच फूट डाली जाए। नतीजा यह हुआ कि नवम्बर, 1926 में हुए चुनावों में स्वराज पार्टी ने भाग तो ज़रूर लिया, लेकिन उसकी स्थिति बेहतर नहीं रही। इस प्रकार स्वराज पार्टी का प्रभाव धीरे–धीरे स्वतः समाप्त होता चला गया।

इसके बावजूद इस पार्टी की महत्वपूर्ण उपलब्धि यह रही कि इसने घोर निराशा के क्षणों में लोगों की चेतना को जगाए रखा। अनेक प्रश्नों पर इसने सरकार की कलई खोली और जनता को यह बताया कि किस प्रकार अंग्रेज़ी सत्ता अपने स्वार्थ के लिए काम कर रही है।

## क्रांतिकारी आंदोलन की वापसी

वस्तुतः सन् 1922 में जब अचानक असहयोग आंदोलन वापस ले लिया गया, तो सबसे ज़्यादा निराशा उन युवाओं को हुई जिन्होंने गांधी जी के आह्वान पर स्कूलों और कॉलेजों को छोड़ दिया था। उन्हें ऐसा लगने लगा मानो उनके साथ

विश्वासघात हुआ है। राष्ट्रीय नेताओं की चुप्पी देखकर उनका मन आक्रोश से भर उठा और उन्हें यह अनुभव होने लगा कि अब देश को आज़ाद कराने के लिए एकमात्र हिंसा का ही रास्ता बचा है।

स्वतंत्रता आंदोलन में आए हुए ठहराव को जहाँ एक ओर स्वराज पार्टी के लोगों ने विरोध की रणनीति द्वारा दूर करने की कोशिश की, वहीं दूसरी ओर उस समय के क्रुद्ध युवकों ने इसके लिए हिंसात्मक तौर-तरीके अपना लिए। भारत में यह क्रांतिकारी आंदोलन मूल रूप से दो क्षेत्रों में विकसित हुआ। पहला क्षेत्र पंजाब, उत्तरप्रदेश और बिहार का था और दूसरा क्षेत्र बंगाल का। यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि पहला क्रांतिकारी आंदोलन पूरी तरह हिंसा पर आधारित था। उस हिंसा के पीछे कोई वैचारिक आधारभूमि नहीं थी, लेकिन इस बार के क्रांतिकारी आंदोलन के पीछे विचारों की शक्ति थी। ये युवा क्रांतिकारी नई सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों के जानकार थे। ये रूसी क्रांति से प्रभावित लोग थे। रूस की समाजवादी पार्टी ने इनको बहुत प्रेरित किया था, इसलिए इनका वैचारिक पक्ष मूल रूप से शोषण का विरोध करने वाला था। सच तो यह है कि क्रांतिकारी आंदोलन भारत के समाजवादी आंदोलन का पहला चरण था।

सन् 1924 में इन क्रांतिकारी युवकों ने कानपुर के सम्मेलन में 'हिन्दुस्तानी रिपब्लिकन एसोसिएशन' बनाई। इस एसोसिएशन का उद्देश्य सशस्त्र क्रांति के द्वारा औपनिवेशिक सत्ता को समाप्त करके 'संयुक्त राज्य भारत' की स्थापना करना था।

क्रांतिकारियों को अपने काम के लिए धन की ज़रूरत थी। इस उद्देश्य से उन्होंने लखनऊ के पास के एक गाँव काकोरी में एक ट्रेन को रोककर रेल विभाग का खज़ाना लूट लिया। सरकार बहुत नाराज़ हुई और अनेक युवकों को गिरफ्तार कर लिया। इस काण्ड में शामिल होने के आरोप में अशफाक उल्ला खाँ, रामप्रसाद बिस्मिल, रोशन सिंह और राजेन्द्र लाहिड़ी को फाँसी दे दी गई। सौभाग्य से चन्द्रशेखर आज़ाद फरार हो गए।

इसके बाद चन्द्रशेखर आज़ाद के नेतृत्व में आतंकवादी कार्रवाईयाँ

शुरू हुई। उन्होंने अपने संगठन का नाम बदलकर 'हिन्दुस्तानी सोशलिस्ट रिपब्लिकन' कर लिया। इनका उद्देश्य देश में समाजवाद की स्थापना करना था।

भगत सिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद और राजगुरु ने सन् 1928 में एक पुलिस अधिकारी सैन्डर्स की हत्या कर दी। यह वही पुलिस अधिकारी था, जिसने साइमन कमीशन का बहिष्कार किए जाने के समय पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय पर लाठी से वार किया था। इस चोट के कारण कुछ ही दिनों के बाद लाला लाजपतराय की मृत्यु हो गई थी। इन क्रांतिकारियों ने इसी का बदला लेने के लिए सैन्डर्स की हत्या की थी।

इस क्रांतिकारी संगठन ने यह भी फैसला किया कि अब वह जनता को यह समझाए कि क्रांतिकारियों का उद्देश्य जन-क्रांति करना है। इसी समय हुआ यह कि सरकार ने दो विधेयक तैयार किए थे- जन-सुरक्षा अधिनियम और मज़दूर विवाद अधिनियम। इन दोनों का उद्देश्य जनता के, विशेषकर मज़दूरों के मौलिक अधिकारों को नियंत्रित करना था। इन दोनों अधिनियमों का विरोध करने के लिए यह निर्णय लिया गया कि भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त सेन्ट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली में बम फेकेंगे। इसका उद्देश्य किसी को मारना नहीं, बल्कि 'बहरों को सुनाना' भर था। आठ अप्रैल, 1929 को दिल्ली स्थित सेन्ट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली में बम फेंका गया। यदि भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त चाहते तो आसानी से भाग सकते थे, किन्तु उन्होंने जान-बूझकर ऐसा नहीं किया। वे चाहते थे कि उन्हें गिरफ्तार किया जाए, ताकि वे अदालत को अपनी विचारधारा के प्रचार का माध्यम बना सकें। और सचमुच हुआ भी यही। इन दोनों क्रांतिकारियों को गिरफ्तार कर लिया गया और इन पर मुकदमा चलाया गया। ये युवा क्रांतिकारी अदालत में जो कुछ भी कहते, सुबह के अखबार उन्हीं क्रांतिकारी बयानों से भरे रहते। ये क्रांतिकारी नौजवान 'इन्कलाब ज़िन्दाबाद', 'सर्वहारा ज़िन्दाबाद' तथा 'साम्राज्यवाद मुर्दाबाद' के नारे लगाते। इन क्रांतिकारियों का साहस और इनकी निडरता से जनता अभिभूत हो जाती। इनके प्रति जनता इतनी अधिक सम्मोहित हो गई थी कि अहिंसा पर विश्वास रखने

वाले लोग भी इनके प्रति सहानुभूति रखने लगे थे। भगत सिंह का नाम तो हर व्यक्ति की ज़ुबान पर आ गया था।

मुकदमा चला और जैसा कि होना था, 23 मार्च, 1931 को भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु को फाँसी पर लटका दिया गया। सरकार का यह फैसला सुनकर सारा देश भौचक्का रह गया। शायद ही कोई ऐसी आँख रही हो, जो उस दिन रोई न हो। सारे देश पर उदासी की एक गहरी काली चादर तन गई।

चन्द्रशेखर आज़ाद सन् 1931 में इलाहाबाद के एक पार्क में पुलिस के साथ मुठभेड़ में मारे गये।

इसी समय क्रांति की दूसरी धारा बंगाल में बह रही थी। इसकी विशेषता यह थी कि बंगाल की युवतियाँ भी इसमें भाग ले रही थीं। इन क्रांतिकारियों में सूर्यसेन का नाम सबसे प्रमुख है। अप्रैल, 1930 में सूर्यसेन के नेतृत्व में चटगाँव के सरकारी शस्त्रागार पर आक्रमण हुआ। सूर्यसेन ने वन्देमातरम् और इन्कलाब ज़िन्दाबाद के नारों के बीच तिरंगा झण्डा फहराकर एक कामचलाऊ क्रांतिकारी सरकार के गठन की घोषणा कर दी। ये क्रांतिकारी जगह-जगह फैल गए, जिनका काम सरकारी कर्मचारियों और सम्पत्तियों पर हमला करना था। तीन साल तक ये क्रांतिकारी गाँवों में रहकर अपनी कार्रवाई करते रहे। दुर्भाग्य से 1933 में सूर्यसेन को गिरफ्तार कर लिया गया, उन पर मुकदमा चला और 12 जनवरी, 1934 को उन्हें फाँसी पर लटका दिया गया। अन्य क्रांतिकारियों को भी लम्बी सज़ाएँ हुईं।

बंगाल के क्रांतिकारी आंदोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें अनेक युवतियों ने भाग लिया। ये क्रांतिकारी महिलाएँ क्रांतिकारियों को अपने यहाँ शरण देने, उनके संदेश पहुँचाने और उनके हथियारों की रक्षा करने का काम करती थीं। ज़रूरत पड़ने पर संघर्ष भी करती थीं। कल्पना दत्त को सूर्यसेन के साथ गिरफ्तार किया गया था। उन्हें आजीवन कारावास की सज़ा मिली। शान्ति घोष और सुनीति चौधरी नाम की दो छात्राओं ने गोली मारकर जिलाधिकारी की हत्या कर दी थी। बीना दास ने दीक्षांत समारोह में उपाधि ग्रहण करते समय गवर्नर पर गोली चलाई थी।

युवाओं की ये क्रांतिकारी कार्रवाइयाँ अंग्रेज़ी सरकार के लिए चुनौती जैसी थीं। इसलिए सरकार ने इन्हें कुचलने के लिए कड़ी दमन नीति का सहारा लिया। सरकार क्रांतिकारियों के प्रति कितनी निर्मम थी, इसका अंदाज़ा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि सन् 1931 के द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में गांधी जी, भगत सिंह आदि क्रांतिकारियों की मृत्युदण्ड की सज़ा को आजीवन कारावास में नहीं बदलवा सके थे। सरकार के कड़े कदमों के कारण धीरे-धीरे क्रांतिकारी आंदोलन समाप्त होने लगा।

इनकी अपनी कुछ सीमाएँ भी थीं। ये जनता की भावनाओं को तो उद्वेलित कर देते थे, लेकिन उन्हें राजनीतिक आंदोलन में शामिल करने में सफल नहीं हो सके। जनता से भी सीधे इनका कोई सम्पर्क नहीं था। वस्तुतः ये आग की उस लपट के समान थे, जो तेज़ी के साथ अपनी रोशनी बिखेरकर समाप्त हो जाती है।

इसके बावजूद हमारे देश के स्वतंत्रता आंदोलन में इन युवा क्रांतिकारियों के योगदान की कहानियाँ आज तक अमर हैं। इन्होंने जिस अनन्य राष्ट्र-प्रेम, अदम्य साहस और बलिदान का परिचय दिया, वह लोगों के लिए प्रेरणा का स्रोत था। साथ ही समाजवादी विचारधारा के प्रचार में इनका योगदान अविस्मरणीय है।

अध्याय

# 12 नई उमंग का दौर

सन् 1922 के असहयोग आंदोलन के बाद ऐसी कोई बड़ी राष्ट्रीय घटना नहीं हुई, जिससे सारा देश एक साथ आंदोलित हो। स्वराजवादी सरकार का विरोध करते रहे और युवा क्रांतिकारी सरकार की लूटपाट। इन दोनों में ही जनता की कोई सीधी भागीदारी नहीं थी। इस दौरान गांधी जैसे नेता भी निराशा के दौर से गुज़र रहे थे।

## साइमन आयोग

जब भी राष्ट्रीय चेतना सोने लगती, तभी सरकारी तंत्र अपना डण्डा दिखाकर उसे जगाने की गलती कर बैठता। इस बार भी ऐसा ही हुआ, और यह मौका आया एक आयोग की घोषणा करने पर। आठ नवम्बर, 1927 को सरकार ने एक आयोग के गठन की घोषणा की। इस आयोग का काम यह सिफारिश करना था कि क्या भारत के लोग इस लायक हो गए हैं कि उन्हें और संवैधानिक अधिकार दिए जाएँ। और यदि ये अधिकार दिए जाते हैं, तो वे किस तरह के हों। चूँकि इस आयोग के अध्यक्ष साइमन थे, इसलिए इस आयोग का नाम 'साइमन कमीशन' रखा गया।

यहाँ तक तो बात ठीक थी, किन्तु गड़बड़ी वहाँ हुई जब सरकार ने यह घोषणा की कि इस आयोग के सभी सदस्य अंग्रेज़ होंगे। इस आयोग को भारत का राजनीतिक भविष्य-निर्धारण करना था और मज़ेदार बात यह थी कि ऐसे आयोग की सदस्यता के लिए एक भी भारतीय को योग्य नहीं माना गया। इसे भारतीयों ने जान-बूझकर किया गया अपना अपमान समझा और

यह घोषणा की गई कि साइमन कमीशन का बहिष्कार किया जाएगा।

परिणामस्वरूप जब 3 जनवरी, 1928 के दिन साइमन और उनके सहयोगी बम्बई में उतरे, तो उनके बहिष्कार की कार्रवाई शुरू हो गई। महत्वपूर्ण नगरों और कस्बों में हड़ताल रही। साइमन आयोग जहाँ भी गया, उसे काले झण्डे दिखाए गए। सामूहिक प्रदर्शन किए गए। कुछ स्थानों पर पुलिस के साथ हुए टकराव में लोग मारे गए। कुछ स्थानों पर विरोध के नए तरीके अपनाए गए, उदाहरण के लिए लोनावाला से पूना तक का जो रास्ता है, उसमें रेल की पटरियाँ और सड़क समानान्तर रूप से चलती हैं। वहाँ के नौजवान एक ट्रक पर सवार हो गए और गाड़ी के जिस डिब्बे में साइमन आयोग के सदस्य यात्रा कर रहे थे, उसी के साथ-साथ ट्रक चलाते हुए इन नौजवानों ने उन्हें काले झण्डे दिखाए। इस प्रकार अंजाने में ही साइमन आयोग ने देश में फिर से एक राष्ट्रीय आंदोलन की स्थिति पैदा कर दी।

## नेहरू रिपोर्ट

साइमन आयोग का बहिष्कार करने के निर्णय के साथ ही भारतीय नेताओं ने यह भी निर्णय लिया कि भारतीय स्वयं ही अपना एक सर्वसम्मत संविधान बनाएँ। इस उद्देश्य से एक समिति बनाई गई, जिसके अध्यक्ष मोतीलाल नेहरू थे। इस समिति ने अगस्त, 1928 में अपनी रिपोर्ट पेश की। इसे 'नेहरू रिपोर्ट' कहा जाता है।

नेहरू रिपोर्ट में कहा गया कि भारतीय सरकार को औपनिवेशिक स्वराज की हैसियत रखने वाली सरकार होना चाहिए। रिपोर्ट में साम्प्रदायिक आधार पर अलग निर्वाचक मण्डल की माँग को अस्वीकार किया गया। इसके स्थान पर यह सिफारिश की गई कि जिन स्थानों पर मुस्लिम अल्पमत में हैं, वहाँ दस वर्ष के लिए उनके स्थान आरक्षित किए जाएँ, लेकिन जिन स्थानों पर उनका बहुमत होगा, वहाँ उनके लिए कोई आरक्षण नहीं होगा। इसके साथ ही इस रिपोर्ट में वयस्कों के लिए मताधिकार, महिलाओं के लिए समान अधिकार, यूनियन बनाने की स्वतंत्रता तथा धर्म को राज्य से अलग किए जाने की बातों की सिफारिश की गई।

दुर्भाग्यवश नेहरू रिपोर्ट की सिफारिशों को मंज़ूर नहीं किया गया। मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा तथा सिक्ख लीग के कुछ साम्प्रदायिक लोगों ने इस पर आपत्तियाँ उठाईं। इसी समय मोहम्मद अली जिन्ना ने अपनी चौदह सूत्री माँग पेश कर दी। मोहम्मद अली जिन्ना ने यह माँग की कि केन्द्रीय विधान–मण्डलों में मुसलमानों के लिए एक तिहाई स्थान आरक्षित किए जाएँ। साथ ही बंगाल और पंजाब के विधान–मण्डलों में जनसंख्या के अनुपात में मुसलमानों के लिए स्थान आरक्षित हों। इसके कारण नेहरू रिपोर्ट एक प्रकार से अर्थहीन ही हो गई। गांधी जी भी काँग्रेस के इस कलकत्ता अधिवेशन में शामिल थे। इन स्थितियों को देखकर उन्होंने राजनीति में फिर से सक्रिय होने का निश्चय किया और वे राष्ट्रवादी तत्वों को एकजुट करने में लग गए।

## पूर्ण स्वराज की माँग

सन् 1929 में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का अधिवेशन लाहौर में हुआ। इस अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित करके पूर्ण स्वराज का लक्ष्य घोषित किया गया। अभी तक राष्ट्रवादी नेता स्वराज की माँग कर रहे थे। इस अधिवेशन में पहली बार स्वराज शब्द के पहले 'पूर्ण' शब्द लगाया गया था। इस 'पूर्ण स्वराज' की अभिव्यक्ति के रूप में 31 दिसम्बर, 1929 की आधी रात को रावी नदी के तट पर प्रसन्नता के साथ भारतीय स्वतंत्रता का प्रतीक तिरंगा झण्डा फहराया गया। साथ ही यह भी निश्चित किया गया कि अब प्रति वर्ष 26 जनवरी के दिन को स्वतंत्रता दिवस के रूप में मनाया जाएगा। उस दिन हर व्यक्ति यह शपथ लेगा कि "ब्रिटिश शासन के समक्ष घुटने टेकना मानव और ईश्वर के प्रति अपराध है।" अधिवेशन में सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू करने की भी घोषणा की गई– हालाँकि उसकी कोई रूपरेखा तैयार नहीं हुई थी तब तक। यह काम महात्मा गांधी के ज़िम्मे छोड़ दिया गया। इस प्रकार लाहौर अधिवेशन ने एक नये आंदोलन के बीज बो दिए।

## द्वितीय सविनय अवज्ञा आंदोलन

काँग्रेस के लाहौर अधिवेशन ने गांधी जी को यह अधिकार दिया कि वे जब और जिस जगह से चाहें, सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू करें। इस आंदोलन में 'सरकार को कर न देना' भी शामिल था। गांधी जी जन-आंदोलन के अच्छे पारखी थे। उन्हें भी लगने लगा था कि अब समय आ गया है जब राष्ट्रव्यापी आंदोलन छेड़ा जा सकता है। पहले गांधी जी ने वायसराय के सामने ग्यारह सूत्रीय माँगें पेश कीं, लेकिन जब उन माँगों को लॉर्ड इर्विन ने अनदेखा कर दिया, तब उनके सामने एकमात्र उपाय बच गया कि वे सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ दें।

इस बार के सविनय अवज्ञा आंदोलन के लिए गांधी जी ने एक ऐसी वस्तु को चुना, जिसके बारे में लोग बहुत आशंकित थे। यह वस्तु थी- नमक। ब्रिटिश सरकार नमक पर कर लगाती थी। गांधी जी इस कर को गलत समझते थे। उनका मानना था कि नमक पानी से अलग कोई चीज़ नहीं है और नमक पर कर लगाकर ब्रिटिश सरकार राज्य के करोड़ों लोगों को भूखों मार रही है। उन्होंने इस कर को अमानवीय समझा और यह फैसला किया कि वे अपने अनुयायियों के साथ नमक बनाकर इससे संबंधित कानून को तोड़ेंगे।

उन्होंने अपने साबरमती आश्रम में लोगों को इकट्ठा किया। लोगों को इसके महत्व को समझाने में उन्हें बहुत मेहनत करनी पड़ी। उन्होंने लोगों को अहिंसा का महत्व समझाया और बताया कि भारत में सात लाख गाँव हैं। यदि हर गाँव से दस लोग सत्याग्रह में भाग लेकर नमक कानून तोड़ते हैं, तो सरकार कुछ नहीं कर सकेगी।

12 मार्च, 1930 को गांधी जी ने द्वितीय सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ करने के लिए दाण्डी-यात्रा की शुरुआत की। अपने चुने हुए 78 सहयोगियों के साथ वे साबरमती आश्रम से दाण्डी गाँव के लिए निकल पड़े। गांधी जी की इस यात्रा का समाचार देश के कोने-कोने में फैल गया। लोग जगह-जगह उनका स्वागत करने लगे। वे जहाँ से गुज़रते, लोग चरखा कातकर उनके प्रति सम्मान व्यक्त करते। साथ में चलने वाले कार्यकर्ता

अपने भाषणों से लोगों को वस्तुस्थिति से अवगत कराते। जब गांधी जी दाण्डी पहुँचे, तो सारे देश की निगाहें उनकी ओर देखने लगीं। अंत में 6 अप्रैल, 1930 को एक मुट्ठी नमक हाथ में लेकर उन्होंने सविनय अवज्ञा आंदोलन की शुरुआत की। यह कार्रवाई एक प्रकार से इस बात का प्रतीक थी कि अब भारतीय जनता अंग्रेज़ों के बनाए कानूनों का सम्मान नहीं करेगी।

एक बार जब गांधी जी ने दाण्डी में नमक हाथ में लेकर नमक कानून तोड़ने की शुरुआत कर दी, तो देखते ही देखते यह आंदोलन तेजी के साथ पूरे देश में फैल गया। देश भर में हड़ताल और प्रदर्शन हुए। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया और किसानों ने ज़मींदारों को कर देने से इंकार कर दिया। हज़ारों महिलाएँ अपने घरों से निकलकर इस आंदोलन में शामिल हो गईं। उन्होंने विदेशी कपड़े और शराब की दुकानों पर धरना दिया। जुलूसों में वे पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलीं। गाँव और कस्बों में प्रभात-फेरियाँ निकलने का तो जैसे नियम ही बन गया। इन प्रभात-फेरियों में सुबह-सुबह औरतें और बच्चे झुण्ड बनाकर राष्ट्रीय-गान गाते हुए गली-गली घूमा करते थे। राष्ट्रीयता का संदेश पहुँचाने के लिए जादुई लालटेनें काम में लायी जाती थीं। जगह-जगह छोटी-छोटी सभाएँ और बैठकें होने लगीं। बच्चों की वानर सेनाएँ बनाई गईं।

यह आंदोलन सुदूर उत्तर-पश्चिम तक पहुँचा, जिसके कारण बहादुर पठान इसमें शामिल हुए। सीमान्त गांधी के नाम से प्रसिद्ध लोकप्रिय खान अब्दुल गफ्फार खान ने 'खुदाई खिदमतगार' संगठन बनाया, जो 'लाल कुर्ती' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ये स्वतंत्रता आंदोलन तथा अहिंसा के प्रति समर्पित लोग थे।

मणिपुर और नागपुर में अंग्रेज़ों के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठ खड़ा हुआ। नगालैण्ड की रानी गौडिनल्यू ने विदेशी शासन के विरुद्ध झण्डा खड़ा कर दिया, जिसके लिए उसे बतौर सज़ा आजीवन कारावास भोगना पड़ा।

इस राष्ट्रव्यापी जन-आक्रोश का उत्तर ब्रिटिश सरकार ने निर्मम दमन से दिया। निहत्थी भीड़ पर लाठियाँ और गोलियाँ चलाई गईं। हज़ारों सत्याग्रहियों

को जेल में बंद कर दिया गया। उनकी अनुमानित संख्या करीब 90 हज़ार थी। काँग्रेस को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। कठोर सेंसर लागू करके प्रेस को दबोच दिया गया। गांधी जी को गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया गया। लोगों ने इस गिरफ्तारी का ज़बरदस्त विरोध किया, जिसके फलस्वरूप उनका पुलिस के साथ टकराव हुआ।

जैसा कि अक्सर होता है, एक निश्चित उफान के बाद आंदोलन धीरे-धीरे शांत पड़ने लगा। एक ओर पुलिस का दमनचक्र और दूसरी ओर गांधी जी की गिरफ्तारी के कारण जन-आक्रोश निराशा में बदलने लगा। इसी समय सरकार ने साइमन आयोग की रिपोर्ट स्थगित करके सन् 1930 में लंदन में गोलमेज़ सम्मेलन की घोषणा कर दी। इस सम्मेलन में भाग लेने के लिए भारतीय नेताओं को भी आमंत्रित किया गया। इसके कारण भी आंदोलन धीरे-धीरे शांत होने लगा।

इसके बावजूद यह द्वितीय सविनय अवज्ञा आंदोलन भारतीयों के लिए हर रूप में एक 'जीती हुई' लड़ाई थी। इस आंदोलन में लोगों की भागीदारी देखकर अंग्रेज़ सरकार दिग्भ्रमित हो गई थी। सच तो यह है कि वह एक ज़बरदस्त धर्म-संकट में पड़ गई। उसका धर्म-संकट यह था कि यदि वह जनता को दबाती, तो यह कहा जाता कि वह शांतिपूर्ण आंदोलन को दबाने के लिए हिंसा का सहारा ले रही है और यदि वह चुपचाप बैठती, तो उसका अर्थ यह निकलता था कि वह खुलेआम अपने कानूनों की धज्जियाँ उड़ते देख रही है। इस प्रकार दोनों ही स्थितियों में अंग्रेज़ सरकार की पराजय और भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की विजय थी, और अन्तत: ऐसा ही हुआ। भारतीय जनता के इस विश्वास को गोलमेज़ सम्मेलन के आमंत्रण ने और भी अधिक पुख्ता कर दिया।

इस आंदोलन का एक बड़ा योगदान यह भी रहा कि इसे पहली बार देश के सबसे गरीब और निरक्षर लोगों का भी समर्थन प्राप्त हुआ। इस आंदोलन में गाँव के इन लोगों की भागीदारी सचमुच अभूतपूर्व थी। अंग्रेज़ों की बात तो दूर, भारतीय नेता भी इस भागीदारी से भौचक्के थे। इस आंदोलन ने गांधी जी की समझ को एक बार फिर से प्रमाणित कर दिया

था। गांधी जी की नीति यही थी कि चूँकि नमक का प्रयोग देश का गरीब से गरीब आदमी करता है, इसलिए ऐसी वस्तु के मुद्दे को उठाकर पूरे देश को इसमें शामिल किया जा सकता है। साथ ही 'नमक कानून तोड़ो' आंदोलन के माध्यम से गांधी जी अपना यह संदेश जन-जन को देने में सफल रहे कि भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस को देश के गरीब से गरीब व्यक्ति तक के हित की चिन्ता है और यदि सचमुच देश आज़ाद हुआ, तो वे उस स्वतंत्रता के भागीदार होंगे।

## प्रथम गोलमेज़ सम्मेलन

सन् 1930 में सरकार ने साइमन आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित की। इस रिपोर्ट की सबसे बड़ी कमी यह थी कि इसमें भारत को 'डोमिनियन स्टेट्स ' के अधिकार दिए जाने के बारे में कोई भी चर्चा नहीं की गई थी। इसे भारतीय नेताओं ने स्वराज की दिशा में पीछे ले जाने वाली रिपोर्ट माना। नतीजा यह हुआ कि देश के सभी नेताओं ने इस रिपोर्ट के प्रति अपनी नाराज़गी व्यक्त की। इसके फलस्वरूप अंग्रेज़ सरकार ने लंदन में गोलमेज़ सम्मेलन आयोजित करने की बात कही, ताकि साइमन कमीशन की रिपोर्ट पर विचार-विमर्श किया जा सके।

पहला गोलमेज़ सम्मेलन सन् 1930 में आयोजित किया गया। इसके लिए भारतीय नेताओं और ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों को आमंत्रित किया गया, लेकिन चूँकि इसमें भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के किसी प्रतिनिधि ने भाग नहीं लिया था, इसलिए उसकी कार्रवाइयों का कोई अर्थ नहीं रह गया था।

इसके बाद द्वितीय गोलमेज़ सम्मेलन का आयोजन किया जाना था। इसे देखते हुए वायसराय ने सन् 1931 में गांधी जी के साथ काँग्रेस कार्यकारिणी के अन्य सदस्यों की भी बिना शर्त रिहाई की घोषणा कर दी।

सरकार अब यह प्रयास करने लगी कि किसी तरह काँग्रेस को इस बात के लिए तैयार किया जाए कि वह द्वितीय गोलमेज़ सम्मेलन में भाग ले। इन प्रयासों के परिणामस्वरूप मार्च, 1931 में लॉर्ड इर्विन और गांधी जी

के बीच पन्द्रह दिन के लम्बे विचार-विमर्श के बाद एक समझौता हुआ। इस समझौते में यह बात शामिल थी कि सभी राजनीतिक बंदियों की रिहाई की जाए। इसमें वे बंदी शामिल नहीं थे, जो हिंसक कार्रवाइयों में शरीक थे। यही कारण रहा कि भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु जैसे क्रांतिकारियों की रिहाइयाँ नहीं की गईं और उन्हें फाँसी की सज़ा दे दी गई। इसे कुछ राष्ट्रीय नेताओं ने गांधी जी की असफलता भी माना, लेकिन गांधी जी का तर्क था कि वे किसी भी कीमत पर हिंसात्मक कार्रवाई करने वाले लोगों का पक्ष नहीं लेंगे।

इस समझौते में यह भी व्यवस्था की गई कि बंदियों पर जो आर्थिक दण्ड लगाया गया है, वह माफ कर दिया जाएगा तथा ज़ब्त की गई ज़मीन-जायदाद वापस कर दी जाएगी; जिन कर्मचारियों ने त्याग-पत्र दे दिया है उनके साथ सहानुभूति का व्यवहार किया जाएगा; तटीय क्षेत्र में रहने वाले ग्रामीण लोगों को घरेलू उपयोग के लिए नमक बनाने का भी अधिकार दिया गया। समझौते में अप्रत्यक्ष रूप से यह बात भी शामिल की गई कि अगले गोलमेज़ सम्मेलन में काँग्रेस भाग लेगी।

गांधी-इर्विन के इस समझौते की कुछ काँग्रेसी नेताओं, विशेषकर वामपंथ की ओर झुके हुए वर्ग ने आलोचना की। उनका विरोध इस बात को लेकर था कि अंग्रेज़ सरकार ने कोई भी प्रमुख राष्ट्रवादी माँग स्वीकार नहीं की है। लेकिन गांधी जी का विश्वास था कि लॉर्ड इर्विन सच्चे मन से बात करना चाहते थे, इसलिए उन्हें हृदय-परिवर्तन का अवसर देना चाहिए। सौभाग्यवश सन् 1931 में जब भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का कराची में अधिवेशन हुआ, तब गांधी-इर्विन समझौते को मंज़ूरी मिल गई। इस प्रकार द्वितीय गोलमेज़ सम्मेलन में काँग्रेस के भाग लेने का रास्ता खुल गया।

## द्वितीय गोलमेज़ सम्मेलन

सितम्बर, 1931 में लंदन में दूसरा गोलमेज़ सम्मेलन हुआ। इसमें भाग लेने के लिए गांधी जी अपनी सामान्य वेशभूषा में पहुँचे थे, जिसे देखकर वहाँ के प्रधानमंत्री श्री विंस्टन चर्चिल ने उन्हें 'नंगा फकीर' कहा था। इस सम्मेलन

में गांधी जी ने बहुत कोशिश की कि वे ब्रिटेन को इस बात के लिए तैयार कर लें कि भारत को शीघ्र ही औपनिवेशिक स्वराज (डोमिनियन स्टेट्स) दे दिया जाएगा, लेकिन वे असफल रहे। इसके परिणामस्वरूप गांधी जी को खाली हाथ वापस लौटना पड़ा और सारे देश की भावनाओं को देखते हुए उन्होंने फिर से सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू करने की घोषणा की।

यद्यपि गोलमेज़ सम्मेलन असफल रहा, किन्तु भारत के लोगों पर इसका बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। भारत के लोगों को पहली बार इस बात का अहसास हुआ कि भारतीय जनता की माँग के कारण ब्रिटिश साम्राज्य को झुकना पड़ा और उसे भारतीय नेताओं के साथ बराबरी का व्यवहार करना पड़ा। यहाँ तक कि उनके साथ समझौता भी करना पड़ा। इस प्रकार लोगों को यह लगा कि यह एक प्रकार से भारत की ब्रिटिश सत्ता पर विजय है। यही कारण था कि इस दौरान कैद किए गए नेताओं की समझौते के अनुसार जब रिहाई की गई तो जनता ने उनका भव्य स्वागत किया।

इस सम्मेलन ने इस बात को भी वैधानिक रूप से प्रमाणित कर दिया कि भारत के लिए स्वतंत्रता की माँग करने वाले संगठन में काँग्रेस सबसे प्रमुख संगठन है और उसे भी बातचीत में शामिल करना ज़रूरी है। एक प्रकार से भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की छवि भारतीय जनता की दृष्टि में काफी ऊँची उठ गई। अपने अन्य संगठनों की अपेक्षा उसका स्तर काफी ऊँचा हो गया।

## संघर्ष की फिर से शुरुआत

गांधी जी 28 दिसम्बर, 1931 को लंदन से खाली हाथ बम्बई लौट आए। अगले ही दिन काँग्रेस ने फिर से सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू करने का निर्णय किया। गांधी जी ने वायसराय से बातचीत करने के लिए समय माँगा, जिसे वायसराय ने निरस्त कर दिया। फलस्वरूप सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ हो गया।

सरकार ने भी इस आंदोलन को कुचलने में देर नहीं की। डेढ़ साल पहले ही 'नमक कानून तोड़ो' आंदोलन में पूरे देश की जनता ने जिस

जोश–खरोश से भाग लिया था, ब्रिटिश सरकार उसे भूली नहीं थी। इसलिए उसने इस बार आंदोलन की शुरुआत होते ही 4 जनवरी, 1932 को उस पर हमला बोल दिया। गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया गया और प्रशासन को निरंकुश अधिकार देने के अनेक अध्यादेश जारी किए गए। अब अधिकारी जिसे भी चाहते, उसे गिरफ्तार कर सकते थे और किसी की भी जायदाद हड़प सकते थे। एक सप्ताह के भीतर ही देश के करीब–करीब सभी जाने–माने काँग्रेसी नेता जेल के सींखचों के पीछे डाल दिए गए।

इन गिरफ्तारियों के कारण जनता में आक्रोश फैल गया। चार माह के अंदर ही करीब अस्सी हज़ार सत्याग्रही गिरफ्तार किए गए। पहले के आंदोलन की तरह ही लोगों ने शराब और विदेशी कपड़े की दुकानों के सामने धरना दिया। अवैध सभाएँ, अहिंसक प्रदर्शन तथा सरकारी आदेशों की अवहेलना करना रोज़ की बात हो गई थी।

स्वाभाविक था कि सरकार ने इसे कुचलने के लिए कड़े दमन का सहारा लिया। लोगों में दहशत पैदा करने के लिए जेल में बंद सत्याग्रहियों को कठोर यातनाएँ दी गईं। इनमें महिलाएँ भी शामिल थीं। समाचार–पत्रों पर कठोर नियंत्रण लगा दिया गया। जन–सभाओं को तितर–बितर करने के लिए गोली और लाठियों का सहारा लिया गया। कठोर कारावास और जुर्माने का सहारा लिया गया। जुर्माना न दिए जाने पर जायदाद नीलाम कर दी गई।

हालाँकि जनता ने इन सारी स्थितियों का मुकाबला बड़े साहस के साथ किया, लेकिन चूँकि गांधी जी तथा अन्य राष्ट्रीय नेता जेल में बंद थे, इसलिए इस आंदोलन को गति नहीं मिल सकी। सरकारी दमन के कारण धीरे–धीरे आंदोलन मंद पड़ता गया। जनता को थका हुआ समझकर अप्रैल, 1934 में गांधी जी ने आंदोलन वापस लेने की घोषणा की।

एक बार फिर वही स्थिति आई, जैसी कि चौराचौरी काण्ड के बाद आई थी। आंदोलन को स्थगित करने संबंधी गांधी जी की घोषणा की कई नेताओं ने आलोचना की। इनमें सुभाषचन्द्र बोस और विट्ठलभाई पटेल प्रमुख थे। गांधी जी की इस घोषणा ने जवाहरलाल नेहरू को भी निराश किया।

यह बात ठीक है कि यह संघर्ष थोड़े समय के लिए चला और भारतीय जनता अंग्रेज़ों की दमन नीति के कारण थोड़ी भयभीत भी हो गई थी, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं था कि स्वतंत्रता प्राप्ति की उसकी चाहत कम हो गई थी या कि काँग्रेस से उसका विश्वास कुछ उठ गया था। हालाँकि आंदोलन को अस्थायी रूप से दबा तो ज़रूर दिया गया था, लेकिन जनता की राजनीतिक चेतना और भी अधिक प्रखर हुई थी। जनता के मन में अंग्रेज़ी सत्ता के प्रति जो थोड़ा सम्मान और मोह बचा हुआ था, वह भी उसकी क्रूर नीतियों के कारण समाप्त हो गया। अब जनता के दिमाग में अपने उद्देश्य की तस्वीर बिल्कुल साफ थी कि किसी भी कीमत पर स्वतंत्रता प्राप्त करनी है।

## पूना समझौता

अंग्रेज़ों ने भारतीय उपनिवेश पर अपनी पकड़ को मज़बूत बनाए रखने के लिए शुरू से ही 'बाँटो और राज करो' की नीति का सहारा लिया था। इसके तहत उन्होंने बड़ी चालाकी से हिन्दू और मुसलमानों के बीच दरार पैदा कर दी थी, जो धीरे-धीरे खाई का रूप लेती जा रही थी। सन् 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना हो चुकी थी। दस साल के अंदर ही उसका इतना प्रभाव हो गया था कि सन् 1916 में काँग्रेस को मुस्लिम लीग के साथ एक समझौता करते हुए उनके लिए पृथक् निर्वाचक-मण्डल की बात माननी पड़ी थी। इस प्रकार राष्ट्रीय आंदोलन के दो सबसे बड़े पक्ष हो गए थे- हिन्दू और मुसलमान, लेकिन अंग्रेज़ इसी से संतुष्ट नहीं हुए। इस बार उन्होंने हिन्दू समाज से अल्पसंख्यकों को काटकर अलग करने की चालाकीपूर्ण नीति अपनाई।

सन् 1932 में अंग्रेज़ों ने एक घोषणा की। इसके अनुसार प्रत्येक अल्पसंख्यक समुदाय के लिए विधान-मण्डल की कुछ सीटें सुरक्षित कर दी गईं। इन सीटों पर सदस्यों का चुनाव पृथक् निर्वाचक-मण्डलों से होना था। वह भी इस तरह कि मुसलमान सिर्फ मुसलमान को और सिख सिर्फ सिख को वोट दे सकते थे। मुसलमान, सिख और ईसाई तो पहले से ही

अल्पसंख्यक माने जाते थे, लेकिन अब इस नए कानून के अनुसार दलित वर्ग को भी अल्पसंख्यक मानकर उन्हें हिन्दू समाज से अलग करने की कोशिश की गई। उस समय का यह दलित वर्ग ही आज अनुसूचित जाति कहलाता है।

दलित वर्ग को हिन्दू समाज से अलग करने की अंग्रेज़ों की इस नीति का सभी राष्ट्रवादी नेताओं ने जमकर विरोध किया। गांधी जी उस समय यरवदा जेल में कैद थे। उन्होंने इसे भारतीय एकता पर हमला मानते हुए एक खतरनाक चाल बताया। उनको इस बात का भय था कि यदि दलित वर्ग को हिन्दू समाज से अलग मान लिया गया, तो उनकी सामाजिक स्थिति सुधारने की ओर किसी का ध्यान नहीं जाएगा। इससे वे सदियों तक इसी तरह बने रहेंगे। यह एक प्रकार से अछूतों को हमेशा अछूत बनाए रखने की चाल थी।

गांधी जी इस कानून का विरोध करने के लिए 20 सितम्बर, 1932 से आमरण अनशन पर बैठ गए। इस दिन को पूरे देश ने उपवास और प्रार्थना-दिवस के रूप में मनाया। पूरे देश के मंदिर और कुएँ दलित वर्गों के लिए खोल दिए गए। गाँधी जी के इस प्रयास में कुछ राष्ट्रीय नेता भी शामिल हो गए। जनता के भारी समर्थन को देखते हुए अंत में अंग्रेज़ों को झुकना पड़ा और एक समझौता हुआ। यही समझौता 'पूना पैक्ट' के नाम से जाना जाता है।

पूना पैक्ट के अनुसार दलित वर्गों के लिए जिस पृथक् निर्वाचक-मण्डल की बात कही गई थी, उसे समाप्त कर दिया गया। हाँ, यह अवश्य निर्णय किया गया कि प्रांतीय विधान-मण्डलों में उनके लिए सुरक्षित सीटों की संख्या बढ़ा दी गई।

इस प्रकार दलित वर्ग को हिन्दू समाज में बनाए रखने के अपने प्रयास में गांधी जी को सफलता मिली। गांधी जी इस बात को समझ रहे थे कि यह उनकी जीत का पहला चरण ही है। आवश्यकता इस बात की है कि उनके सामाजिक स्तर में सुधार लाया जाए। इसके लिए उन्होंने 'हरिजन यात्रा' करने का फैसला किया। नवम्बर, 1933 से जुलाई, 1934 तक नौ

माह वे देश का दौरा करते रहे। इस दौरान उन्होंने छुआछूत के उन्मूलन के लिए ज़बरदस्त प्रचार किया; दलित वर्गों को 'हरिजन' का नाम दिया। हरिजनों के उत्थान के महत्व को समझने तथा अपने अनुयायियों को संतुष्ट करने के लिए गांधी जी सन् 1933 में दो बार अनशन पर बैठे। ऐसा नहीं था कि गांधी जी का यह रास्ता सरल और सीधा था। अपने हरिजन आंदोलन के दौरान उन्हें स्थान-स्थान पर कट्टरपंथियों और प्रतिक्रियावादियों के विरोध का सामना करना पड़ता था। उन्हें काले झण्डे दिखाए जाते थे। यहाँ तक कि पूना में उनकी कार पर बम भी फेंका गया, लेकिन सौभाग्य से गांधी जी उस कार में नहीं बैठे थे। सरकार भी प्रतिक्रियावादी शक्तियों का साथ दे रही थी। इसके बावजूद गांधी जी अपने उद्देश्य पर अडिग रहे और निरंतर अपने आंदोलन को आगे बढ़ाते रहे।

हालाँकि गांधी जी बार-बार यही कहते रहे कि उनका यह 'हरिजन आंदोलन' कोई राजनीतिक आंदोलन नहीं बल्कि हिन्दू समाज को शुद्ध करने का आंदोलन है, किन्तु इसमें कोई दो मत नहीं कि उनके इस आंदोलन का बड़ा अच्छा राजनीतिक प्रभाव पड़ा। 'हरिजन आंदोलन' के कारण राष्ट्रवाद का संदेश हरिजनों तक पहुँचा। यह संदेश उस वर्ग के लोगों तक पहुँचा जो पददलित थे, निरक्षर थे, बेहद गरीब थे और जिनके लिए आज़ादी और गुलामी में कोई फर्क नहीं था। इस 'हरिजन आंदोलन' के कारण अब वह वर्ग भी राष्ट्रीय आंदोलन से सीधे-सीधे जुड़ गया था।

ꙮ

अध्याय

# 13 काँग्रेस का शासन

यद्यपि अंग्रेज़ी हुकूमत सन् 1932–33 के संघर्ष को दबाने में सफल तो हो गई थी, लेकिन उसे मालूम था कि संघर्ष की जड़ों को उखाड़ा नहीं जा सका है। उसे यह अनुभव होने लगा था कि निर्मम कानून और पुलिस की शक्ति के आधार पर बहुत दिनों तक भारत पर शासन करना संभव नहीं हो सकता। इसलिए उसकी कोशिश रही थी कि किस प्रकार राष्ट्रीय आंदोलन को कमज़ोर किया जाए। इसके लिए उसके पास दो तरीके थे। पहला तो यह कि उसने 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाकर हिन्दू, मुसलमान तथा अन्य अल्पसंख्यक वर्गों के बीच दीवार खड़ी की। दूसरे यह कि किसी तरह काँग्रेसी नेताओं के बीच फूट पैदा कर दी जाए। इसके लिए वह संवैधानिक सुधारों का जाल फेंका करती थी। कुछ काँग्रेसी इन सुधारों के मोह में फँसकर कुछ समय के लिए अंग्रेज़ों के प्रशंसक बन जाते थे और इस प्रकार उनमें आपस में ही विवाद खड़ा हो जाता था।

## भारत सरकार अधिनियम–1935

अपनी इसी नीति के अंतर्गत ब्रिटिश संसद ने अगस्त, 1935 में गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट–1935 पारित किया। वस्तुतः जब नवम्बर, 1932 में तीसरे गोलमेज़ सम्मेलन में काँग्रेसी नेताओं ने भाग नहीं लिया, तब उसमें हुए विचार–विमर्श के अनुरूप यह एक्ट पारित किया गया।

इस अधिनियम के अनुसार विभिन्न प्रान्तों तथा देशी राजाओं की

रियासतों को मिलाकर एक भारतीय गणतंत्र बनाया जाना था। द्विसंसदीय संघीय विधान-मण्डल की व्यवस्था की गई। देशी राज्यों के प्रतिनिधियों का चुनाव जनता से न होकर, सीधे शासकों द्वारा नामजद किया जाना था। उस समय केवल चौदह प्रतिशत लोगों को मतदान का अधिकार था। सभी विषयों पर गवर्नर जनरल को विशेष अधिकार प्राप्त थे और वह ब्रिटिश सरकार के प्रति उत्तरदायी था।

अंग्रेज़ सरकार को यह विश्वास था कि सुधारों के इस सवाल पर काँग्रेस में फूट पड़ जाएगी और इसके बाद वे संघर्ष का रास्ता छोड़कर संवैधानिक तरीके से अपनी माँगों को प्रस्तुत करेंगे। उन्हें यह भी विश्वास था कि यदि एक बार काँग्रेस ने चुनाव में भाग लेकर सत्ता का सुख प्राप्त कर लिया, तो फिर वे संघर्ष का रास्ता नहीं अपनाएँगे।

लेकिन अंग्रेज़ों की यह अपेक्षा पूरी नहीं हुई। काँग्रेस ने इस अधिनियम को बिल्कुल निराशाजनक कहकर उसकी निन्दा की और इसके बदले स्वतंत्र भारत के लिए संविधान बनाए जाने की माँग की। उसने कहा कि इसके लिये एक संविधान सभा बनाई जाए और इस संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर हो।

## काँग्रेस की सत्ता

अंग्रेज़ सरकार ने न केवल भारत सरकार अधिनियम-1935 की घोषणा ही की थी, बल्कि उसे तुरन्त लागू भी कर दिया। प्रान्तीय स्वायत्तता के लिए काम करना शुरू कर दिया गया और सन् 1937 के प्रारंभ में चुनाव कराए जाने की घोषणा कर दी।

अब काँग्रेस के सामने प्रश्न यह था कि वह इन चुनावों में भाग ले या नहीं। जवाहरलाल नेहरू, सुभाष चन्द्र बोस तथा कुछ अन्य समाजवादी और कम्युनिस्ट नेता चुनाव में भाग लेने के खिलाफ थे, जबकि कुछ नरमपंथी राष्ट्रवादी नेताओं का यह मानना था कि वर्तमान राजनीतिक स्थितियों में जन-आंदोलन की बजाय संवैधानिक संघर्ष का ही रास्ता अपनाया जाना चाहिए। इन लोगों का दृष्टिकोण ठीक वही था, जो सन् 1925 में चितरंजनदास

और मोतीलाल नेहरू जैसे स्वराजवादी नेताओं का था। अंततः सन् 1936 में यह फैसला किया गया कि काँग्रेस चुनाव में भाग लेगी।

सन् 1937 में चुनाव हुआ। काँग्रेस ने बड़े जोर-शोर से चुनाव-प्रचार किया। फलस्वरूप उसे बहुत अच्छी सफलता मिली। उसने 1161 सीटों पर चुनाव लड़ा था, जिनमें से 716 सीटों पर वह जीती। बंगाल, असम, उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त, पंजाब और सिंध को छोड़कर शेष सभी प्रांतों में इसे स्पष्ट बहुमत मिला। इस सफलता के कारण औपनिवेशिक सत्ता के विकल्प के रूप में काँग्रेस की प्रतिष्ठा और भी अधिक बढ़ गई। चुनाव के बाद छह प्रान्तों में काँग्रेस की सरकार बनी। ये प्रान्त थे- मद्रास, बम्बई, मध्य भारत, उड़ीसा, बिहार और संयुक्त प्रान्त। बाद में उसने पश्चिमोत्तर प्रान्त और असम में भी सरकारें बनाईं।

काँग्रेस ने अपने चुनावी घोषणा-पत्र में ही यह स्पष्ट कर दिया था कि वह सन् 1935 के अधिनियम को पूरी तरह अस्वीकर करती है। उसने यह वायदा किया था कि वह नागरिक स्वतंत्रता फिर से बहाल करेगी, राजनीतिक बंदियों को रिहा करेगी, छुआछूत को समाप्त करेगी, कृषि व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन कराएगी, किसानों के कर्ज़ माफ करेगी, करों में कटौती करेगी तथा मज़दूरों को संगठन बनाने और हड़ताल करने का अधिकार देगी। जैसे ही काँग्रेस की सरकार बनी, उसने अपने घोषणा-पत्र के इन वायदों पर अमल करना शुरू कर दिया।

निश्चित रूप से यह काँग्रेस के लिए नये संघर्ष की शुरुआत थी। हालाँकि उसके पास शक्तियाँ बहुत कम थीं, इसके बावजूद उसने 'संघर्ष की शक्ति' का रास्ता अपनाते हुए यथासंभव प्रयास किए।

काँग्रेस के मंत्रियों ने सरल जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया। उन्होंने अपना वेतन दो हज़ार से घटाकर पाँच सौ रुपए कर दिया। जनता को राहत देने वाले कानून पारित किए गए। प्रेस पर से प्रतिबंध हटाए गए। आपातकालीन अधिकार रद्द किए गए। पुलिस के अधिकारों में कटौती की गई। राजनीतिक कैदियों को रिहा किया गया। किसानों और मज़दूरों को आर्थिक राहत देने संबंधी कानून बनाए गए। हरिजनों को मंदिरों में प्रवेश

करने जैसे नागरिक अधिकार दिए गए। ग्रामीण उद्योगों को आर्थिक सहायता और समर्थन दिया गया। इस प्रकार काँग्रेस ने अपने कार्यों से जनता के सामने उस स्वराज की एक झलक प्रस्तुत की, जो स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद स्थापित किया जाना था।

काँग्रेस का यह शासन 28 महीने तक रहा। काँग्रेस ने अपने इस शासनकाल का प्रयोग जनता को संगठित करने और उनके सामने इस बात को स्पष्ट करने में किया कि एक विदेशी हुकूमत और स्वयं की हुकूमत में क्या अंतर होता है। काँग्रेस मंत्रिमण्डल के गठन से जनता के मन में यह विश्वास पैदा हुआ कि वे स्वयं अपना शासन कर सकते हैं। अंग्रेज़ों द्वारा फैलाया गया वह भ्रम टूटा कि भारतीय अपना शासन चलाने के योग्य नहीं हैं। नागरिक स्वतंत्रता बहाल होने के कारण लोगों के अंदर छिपी हुई ऊर्जा का स्रोत फूट पड़ा। भारतीयों को यह देखकर आश्चर्य होता था कि जो सरकारी अधिकारी कभी भी नेताओं को हथकड़ियाँ लगाकर जेल में डाल देते थे, आज वही उनके आदेशों का पालन कर रहे हैं। जनता में एक ऐसा उत्साह और उमंग आ गई थी कि अब वे सचिवालय के अंदर घुसने की हिम्मत करने लगे थे तथा कमरों के अंदर बैठे अपने नेताओं को ताकने-झाँकने से चूकते नहीं थे। निःसंदेह काँग्रेस की सरकार ने साम्राज्यवादियों की उस कूटनीति को असफल कर दिया था कि संवैधानिक संशोधन के ज़रिए राष्ट्रीय आंदोलन को कमज़ोर किया जा सकता है। परिणाम बिल्कुल इसके विपरीत हुआ। काँग्रेसियों का सत्ता में आना एक प्रकार से स्वराज-प्राप्ति की दिशा में पहला कदम सिद्ध हुआ।

## त्रिपुरी का काँग्रेस अधिवेशन

सन् 1937 में काँग्रेस के सत्ता में आने के बाद जहाँ देश में उत्साह की एक नई लहर दौड़ी, वहीं वामपंथी नेताओं के विचारों का जुझारूपन भी बढ़ गया। नेहरू जैसे समाजवादी नेता के विचारों को ध्यान से सुना जाने लगा। सन् 1938 में जब काँग्रेस का अधिवेशन हुआ, तब सुभाषचन्द्र बोस को इसका अध्यक्ष चुना जाना काँग्रेस में वामपंथी विचारधारा के बढ़ते हुए

प्रभाव का प्रतीक था। यह प्रभाव सन् 1939 के त्रिपुरी अधिवेशन में तब अपने चरम पर पहुँच गया, जब सुभाषचन्द्र बोस ने महात्मा गांधी के उम्मीदवार सीतारमय्या को पराजित किया। किन्तु जब गांधी जी ने सीतारमय्या की हार को अपनी हार कहा तो एक प्रकार से काँग्रेस संगठन में संकट के बादल छा गए। त्रिपुरी अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित किया गया, जिसके अनुसार गांधी जी के नेतृत्व में काँग्रेस की नीतियों के प्रति पूरी आस्था व्यक्त की गई थी। साथ ही इस प्रस्ताव में सुभाष चन्द्र बोस से कहा गया था कि वे अपनी कार्य-समिति का गठन गांधी जी की इच्छा के अनुसार करें, लेकिन गांधी जी ने इसे स्वीकार नहीं किया और सुभाषचन्द्र बोस से कहा कि वे कार्य समिति अपने अनुसार बनाएँ। इसी कारण सुभाषचन्द्र बोस एक विचित्र स्थिति में पड़ गए और उनके सामने इसके सिवाय कोई रास्ता नहीं था कि वे अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे दें। फलस्वरूप उन्होंने त्यागपत्र दे दिया और उनकी जगह डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को अध्यक्ष चुना गया। इस प्रकार काँग्रेस अपने ऊपर आए संकट से एक बार फिर से उबर गई और राष्ट्रीय आंदोलन बिखरने से बच गया।

## द्वितीय विश्वयुद्ध और आंदोलन

जब जर्मनी के तानाशाह नेता हिटलर ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया, तब एक सितम्बर, 1934 को द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरुआत हो गई। इससे पहले हिटलर ऑस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया पर कब्ज़ा कर चुका था। ब्रिटेन और फ्रांस अब तक हिटलर के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाए हुए थे। पर अब उन्हें पोलैण्ड की मदद के लिए सामने आना पड़ा और वे जर्मनी के विरुद्ध युद्ध करने को बाध्य हो गए। तीन सितम्बर, 1939 को इंग्लैण्ड युद्ध में कूद पड़ा। इस बारे में भारत सरकार ने न तो काँग्रेस से और न ही केन्द्रीय विधायिका से कोई राय ली। इसे भारतीय नेताओं ने अपना अपमान समझा। काँग्रेस ने माँग की कि युद्ध में सक्रिय भाग लेने से पहले उसे चाहिए कि वह भारत को स्वतंत्र घोषित कर दे और प्रभावी सत्ता भारतीयों के हाथ में हो। ब्रिटिश सरकार ने इस माँग को मानने से इंकार कर

दिया। इसके फलस्वरूप काँग्रेस के मंत्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया और राष्ट्रीय स्तर के नेता जन–आंदोलन छेड़ने के लिए सत्ता के घेरे से बाहर आ गए।

अब सवाल यह था कि अंग्रेज़ सरकार के प्रति काँग्रेस कौन–सी नीति अपनाए। कुछ जुझारू नेता चाहते थे कि चूँकि अभी ब्रिटिश हुकूमत विश्वयुद्ध में उलझी हुई है, इसलिए यह अच्छा अवसर है कि उसके विरुद्ध जन–आंदोलन छेड़कर उस पर स्वराज प्राप्ति के लिए दबाव डाला जाए, जबकि गांधी जी एवं अन्य कुछ नेता आंदोलन तुरन्त शुरू करने के पक्ष में नहीं थे। इन नेताओं को यह भय था कि कहीं ऐसा न हो कि हिन्दू–मुस्लिम एकता के अभाव में साम्प्रदायिक दंगों और गृहयुद्ध की स्थिति आ जाए। फिर काँग्रेस का संगठन भी ऐसा नहीं था कि वह तुरन्त कोई आंदोलन छेड़ सके। गहरे विचार–विमर्श के बाद सन् 1940 के अंत तक काँग्रेस ने एक बार फिर से अपनी कमान गांधी जी के हाथ में सौंप दी।

इस बीच करीब सवा साल तक अंग्रेज़ी सत्ता ने अपनी दमन नीति को बनाए रखा। वह अध्यादेश पर अध्यादेश जारी करके अभिव्यक्ति तथा प्रेस की स्वतंत्रता का हनन करने लगी। सभा करने और संगठन बनाने पर रोक लगा दी गई। सरकार का यह कहना था कि जब तक काँग्रेस मुस्लिम सम्प्रदायवादियों के साथ कोई समझौता नहीं कर लेती, तब तक संवैधानिक सुधार नहीं किया जा सकता। इन सब कारणों से काँग्रेस के नेताओं का ही नहीं, बल्कि जनता का भी धैर्य चुकने लगा था।

और अन्ततः सन् 1940 के अंत में गांधी जी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह की घोषणा कर दी। उन्होंने यह निश्चय किया कि प्रत्येक क्षेत्र में कुछ चुने हुए सत्याग्रही व्यक्तिगत सत्याग्रह करेंगे। सत्याग्रही सरकार से यह माँग करेंगे कि भारत को युद्ध में झोंकने के खिलाफ प्रचार करने के लिए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता होनी चाहिए। ये सत्याग्रही अपने भाषण में यह बताएँगे कि तन और धन से ब्रिटिश सरकार की युद्ध में मदद करना पूरी तरह गलत है। उनको गांधी जी ने इस आंदोलन को पूरी तरह अहिंसक रखने की चेतावनी दी। इसलिए सत्याग्रही पहले जिला मजिस्ट्रेट को इस बात की सूचना दे देते थे कि वे किस

स्थान पर, किस समय सत्याग्रह करेंगे।

विनोबा भावे प्रथम सत्याग्रही चुने गए और जवाहरलाल दूसरे। सत्याग्रहियों का चुनाव बहुत सोच-समझकर किया जाता था। जब ये सत्याग्रही मंच पर युद्ध-विरोधी भाषण देते, तो जनता उन्हें चारों ओर से घेर लेती। इसी बीच पुलिस आकर सत्याग्रहियों को गिरफ्तार कर लेती, लेकिन तब तक सत्याग्रही अपना संदेश दे चुके होते। यदि सत्याग्रही गिरफ्तार होने से बच जाते, तो वे गाँवों की ओर चल देते और अपने संदेश देते हुए दिल्ली की ओर बढ़ने की कोशिश करते। इसलिए इसका नाम 'दिल्ली चलो आंदोलन' पड़ गया।

व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन को जनता का भारी समर्थन मिला। सात माह के अंदर, अर्थात् मई, 1941 तक करीब पच्चीस हज़ार सत्याग्रही दंडित किए जा चुके थे। हालाँकि यह आंदोलन कुछ ही महीने चला, किन्तु इसका ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा। यह आंदोलन एक प्रकार से भारतीय जनता की उग्र भावनाओं का प्रतीक था। काँग्रेसियों ने इस आंदोलन के द्वारा अंग्रेज़ों को इस बात के लिए एक और मौका दिया था कि वे भारत की माँगों को स्वीकार कर लें। इस आंदोलन के माध्यम से काँग्रेस संगठन को सुदृढ़ किया जा रहा था, ताकि भविष्य में कोई ज़ोरदार आंदोलन छेड़ा जा सके और एक वर्ष बाद ही यह ज़ोरदार आंदोलन 'भारत छोड़ो आंदोलन' के रूप में हमारे सामने आया।

अब तक विश्वयुद्ध को शुरू हुए करीब दो वर्ष हो चुके थे। जर्मनी ने यूरोप के बहुत से हिस्सों पर कब्ज़ा कर लिया था। उसके साथी जापान ने फिलीपिन्स, हिन्द-चीन, इण्डोनेशिया, बर्मा और मलाया पर भी कब्ज़ा कर लिया, लेकिन जब मार्च, 1942 में जापान ने रंगून पर कब्ज़ा किया, तो इसका मतलब यह था कि यह युद्ध भारत की चौखट पर आ पहुँचा है। अंग्रेज़ों को यह लगा कि अब वह समय दूर नहीं जबकि बर्मा, श्रीलंका, कलकत्ता और मद्रास भी दुश्मन के कब्ज़े में जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में अंग्रेज़ों का चिन्तित होना स्वाभाविक था।

स्वयं भारतीय नेता भी अपने देश की दहलीज़ तक आए युद्ध के

कारण भारत की सुरक्षा को लेकर चिन्तित थे। ऐसी स्थिति में काँग्रेस ने एक प्रस्ताव पारित करके यह कहा कि यदि ब्रिटेन युद्ध के बाद भारत को पूरी तरह स्वतंत्रता देने तथा तत्काल ठोस रूप से सत्ता देने को तैयार हो जाए, तो हम ब्रिटेन के साथ पूरा-पूरा सहयोग करेंगे। यही वह समय था, जब गांधी जी ने जवाहरलाल नेहरू को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया।

## क्रिप्स मिशन

लेकिन अंग्रेज़ों ने भारतीय नेताओं की इस माँग की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। जब विश्वयुद्ध में मित्रराष्ट्रों की स्थिति खराब होने लगी तब अमेरिका, चीन तथा स्वयं ब्रिटेन के विपक्षी पार्टी के नेताओं ने ब्रिटेन के प्रधानमंत्री चर्चिल पर इस बात के लिए दबाव डाला कि वे युद्ध में भारतवासियों का सहयोग प्राप्त करें। यह सहयोग प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने मार्च, 1942 में कैबिनेट मंत्री स्टैफर्ड क्रिप्स के नेतृत्व में एक सद्भाव-मण्डल भारत भेजा। इस मण्डल ने भारत आते ही घोषणा की कि ब्रिटिश नीति का उद्देश्य जितनी जल्दी संभव हो सके, भारत में स्व-शासन की स्थापना करना है।

लेकिन इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे अपने साथ जो मसविदा लेकर आए थे, वह बहुत निराशाजनक था। उसमें युद्ध समाप्त होने पर भारत को स्वतंत्र उपनिवेश का दर्जा देने की बात कही गई थी, जबकि भारतीयों की यह माँग थी कि सत्ता का तुरंत हस्तांतरण किया जाए। अब भारतीय नेताओं को अंग्रेज़ों के भविष्य के वायदों पर भी भरोसा नहीं रह गया था। नतीजा यह हुआ कि क्रिप्स और काँग्रेस नेताओं के बीच बातचीत असफल हो गई। हालाँकि क्रिप्स भारत के प्रति थोड़ा लचीला रुख अपनाना चाहते थे, लेकिन उनको इसके लिए अधिकार नहीं दिए गए थे। फलस्वरूप असफल होकर सर स्टैफर्ड क्रिप्स एक माह के बाद ही स्वदेश लौट गए।

क्रिप्स मिशन की इस असफलता ने भारतीय नेताओं और जनता के मन में निराशा और कटुता भर दी। उन्हें अब लगने लगा कि देश की राजनीतिक स्थिति असह्य होती जा रही है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो

गया था कि अंग्रेज़ों के विरुद्ध कोई ज़बरदस्त और निर्णायक संघर्ष छेड़ा जाए।

## भारत छोड़ो आंदोलन

अभी सर स्टैफर्ड क्रिप्स को वापस गए एक पखवाड़ा ही हुआ था कि काँग्रेस की कार्यसमिति ने 'भारत छोड़ो' की बात कही और इसी के साथ स्वतंत्रता आंदोलन के सबसे संघर्षपूर्ण चरण की शुरुआत हुई। चूँकि इसका प्रारंभ 9 अगस्त को हुआ था, इसलिए इसे 'अगस्त क्रांति' भी कहा जाता है।

बम्बई के ग्वालिया टैंक मैदान में अखिल भारतीय काँग्रेस समिति की बैठक हुई, जिसमें जनता उसी तरह उमड़ पड़ी थी जैसी कि अरब सागर में समुद्र की लहरें। उपस्थित लोगों के सम्मुख गांधी जी ने अपना ऐतिहासिक जोशीला भाषण दिया। उनके इस भाषण की भाषा पहले भाषणों से काफी भिन्न थी। उन्होंने साफ-साफ कहा-

''इतना आप निश्चित जान लें कि मैं मंत्रिमण्डल वगैरह में वायसराय से कोई समझौता करने नहीं जा रहा हूँ। मैं सम्पूर्ण आज़ादी से कम किसी भी चीज़ से संतुष्ट होने वाला नहीं हूँ। एक मंत्र है, छोटा-सा मंत्र, जो मैं आपको देता हूँ। उसे आप अपने हृदय पर अंकित कर सकते हैं। और मैं चाहता हूँ कि आपकी हर साँस इसे व्यक्त करे। यह मंत्र है- 'करो या मरो'। हम भारत को स्वतंत्र कराएँगे या फिर इस कोशिश में मर मिटेंगे। हम अपनी गुलामी को हमेशा बनी रहने देखने के लिए ज़िन्दा नहीं रहेंगे।''

गांधी जी ने अपने भाषण में आंदोलन संबंधी कुछ निर्देश भी दिए थे। ये निर्देश उनके पहले के निर्देशों से उसी तरह अलग थे, जैसे कि उनके भाषण की भाषा। उन्होंने कहा कि सरकारी कर्मचारी नौकरी न छोड़ें, बल्कि काँग्रेस के प्रति अपनी निष्ठा की घोषणा करें; सैनिक अपने देशवासियों पर गोली चलाने से मना कर दें; भारतीय शासक जनता की प्रभुसत्ता स्वीकार करें; किसान मालगुज़ारी देने से इंकार कर दें। इस प्रकार यह 'भारत छोड़ो आंदोलन''सविनय अवज्ञा आंदोलन' और 'असहयोग आंदोलन' से बिल्कुल अलग तरह का था। गांधी जी ने अपना भाषण 8 अगस्त की रात को दिया और 9 अगस्त के तड़के ही उन्हें तथा काँग्रेस के अन्य महत्वपूर्ण नेताओं को

गिरफ्तार कर लिया गया। काँग्रेस को एक बार फिर से गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया।

जैसे ही देश में गिरफ्तारियों की खबर पहुँची, मानो तूफान मच गया हो। देश के सभी बड़े नगरों में जनसभाएँ आंदोलन की मुद्रा में उमड़ पड़ीं। बड़े-बड़े जुलूस निकाले गए। भीड़ ने सरकारी सत्ता के प्रतीक संस्थानों पर हमला बोला। पुलिस थाने, डाकघर, कचहरी तथा रेलवे स्टेशनों पर आक्रमण करना उनका लक्ष्य था। सार्वजनिक भवनों पर तिरंगा झण्डा फहराया गया। उत्तर और मध्य बिहार के तो करीब अस्सी प्रतिशत थानों पर जनता ने अधिकार कर लिया। अगस्त में शुरू हुए इस आंदोलन में दिसम्बर तक करीब साठ हज़ार लोगों को गिरफ्तार किया गया। छब्बीस हज़ार लोगों को सज़ाएँ दी गईं। इसी समय आंदोलन का एक भूमिगत संगठन भी तैयार हो गया था। इसकी बागडोर अच्युत पटवर्द्धन, अरुणा आसफ अली, राममनोहर लोहिया, सुचेता कृपलानी तथा जयप्रकाश नारायण जैसे युवाओं के हाथों में थी। ये लोग पैसा, बम और हथियार इकट्ठे करते तथा देशभर में फैले अपने लोगों के बीच पहुँचाते। हालाँकि इस आंदोलन में पहले लोगों की संख्या कम ही थी, लेकिन उन्हें लोगों का व्यापक सहयोग मिल रहा था। इस संगठन द्वारा गुप्त रेडियो केन्द्र तक का संचालन किया गया, जिसमें राममनोहर लोहिया नियमित रूप से बोलते थे।

डेढ़ माह तक 'भारत छोड़ो आंदोलन' अपने पूरे उफान पर रहा। बाद में कड़े सरकारी दमन के कारण उसका उत्साह मंद पड़ता गया, लेकिन यह समाप्त नहीं हुआ। सच तो यह है कि सन् 1942 से शुरू हुए आंदोलन ने अपनी निरंतरता को तब तक बनाए रखा, जब तक कि देश के लिए आज़ादी की घोषणा नहीं कर दी गई। यह कहना गलत नहीं होगा कि यह आंदोलन अंग्रेज़ी सरकार की पीठ पर एक निर्णायक घूँसा था।

'भारत छोड़ो आंदोलन' की व्यापकता को देखकर आगा खाँ महल में कैद गांधी जी के ऊपर सरकार लगातार यह दबाव डालती रही कि वे आंदोलन में हो रही हिंसा की भर्त्सना करें, लेकिन गांधी जी ने ऐसा करने से साफ-साफ इंकार कर दिया। उनका कहना यही था कि आंदोलन की इस

हिंसा के लिए सरकार ही ज़िम्मेदार है। तभी गांधी जी ने सरकारी दमन के विरोध में 10 फरवरी को 21 दिन तक उपवास करने की घोषणा की।

और जैसे ही उपवास की इस घोषणा की खबर देशभर में फैली, वैसे ही लोगों का आक्रोश बढ़ता चला गया और हड़ताल, प्रदर्शन और जुलूसों का ताँता लग गया। गांधी जी की स्थिति बिगड़ने लगी, लेकिन सरकार तनिक भी नहीं झुकी। उलटे वह गांधी जी के दाह संस्कार की पूर्व व्यवस्था करने लगी। इक्कीस दिन पूरे हुए, किन्तु अंग्रेज़ सरकार की इच्छा पूरी नहीं हुई। हाँ, गांधी जी के उपवास का उद्देश्य अवश्य पूरा हो गया। अब सरकार के पास ऐसा कोई तर्क नहीं बचा था कि वह सन् 1942 के अपने अत्याचारों को सही सिद्ध कर सके। गांधी जी के इस उपवास के कारण देश का मनोबल काफी ऊँचा उठ गया था।

## समानान्तर सरकारें

'भारत छोड़ो आंदोलन' की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता यह भी रही कि देश के कुछ भागों में समानान्तर सरकारों की स्थापना की गई। बलिया में चित्तु पाण्डे के नेतृत्व में सरकार बनी। बंगाल में तामलुक स्थान पर जातीय सरकार का गठन किया गया। सतारा की समानान्तर सरकार सबसे अधिक समय तक चली।

'भारत छोड़ो आंदोलन' में आम लोगों की भागीदारी अपनी चरम सीमा पर थी। छात्रों और महिलाओं का उत्साह पूरे उफान पर था। इस आंदोलन की एक विशेषता यह भी थी कि किसानों ने अपने ज़मींदारों के विरुद्ध हिंसा नहीं की। उनका लक्ष्य तो ब्रिटिश सत्ता के प्रतीकों को निशाना बनाना था।

गांधी जी को बीमारी के आधार पर 6 मई, 1944 को रिहा कर दिया गया। इस बीच उन्हें अपनी जीवन-संगिनी कस्तूरबा से बिछुड़ना पड़ा। 'भारत छोड़ो आंदोलन' शुरू होने के अगले दिन ही कस्तूरबा को बंदी बना लिया गया था। बाद में उन्हें गांधी जी के साथ आगा खाँ महल में रखा गया, जहाँ कुछ महीने बाद ही वे चल बसीं।

गांधी जी के मुक्त होते ही एक बार फिर से देश की राजनीतिक गतिविधियों में सरगर्मी आ गई। काँग्रेस ने रचनात्मक कार्यक्रमों की ओर विशेष ध्यान दिया। काँग्रेस की विभिन्न नामों वाली समितियों को फिर से सक्रिय किया गया। कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण दिए जाने लगे तथा सदस्यता अभियान चलाया गया। काँग्रेस की इन सभी गतिविधियों पर सरकार की तीखी निगाह थी। उसे ऐसा लगने लगा कि शायद अगले आंदोलन की तैयारी की जा रही है। इसे रोकने की दृष्टि से ब्रिटिश सरकार ने जून, 1945 में शिमला सम्मेलन आयोजित किया। सम्मेलन से पहले सभी प्रमुख काँग्रेसी नेताओं को रिहा कर दिया गया ताकि सम्मेलन सफल हो सके। इस प्रकार अगस्त, 1942 में शुरू हुए आंदोलन का एक दौर पूरा हुआ।

## सुभाष चन्द्र बोस और आज़ाद हिन्द फौज

सुभाष चन्द्र बोस आई.सी.एस. के लिए चुन लिए गए थे, लेकिन देश की स्वतंत्रता की भावना ने उन्हें आंदोलनकारी बना दिया। हालाँकि वे काँग्रेस में थे, किन्तु समय-समय पर उसकी नीतियों का विरोध करने में वे नहीं चूके। काँग्रेस पार्टी के अंदर उन्हें वामपंथी रुझानों वाला जुझारू नेता समझा जाता था। एक समय सुभाष चन्द्र बोस की प्रतिष्ठा इतनी बढ़ गई थी कि सन् 1939 में उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए महात्मा गांधी समर्थित उम्मीदवार तक को पराजित कर दिया था। लेकिन इसके बाद सुभाष चन्द्र बोस ने स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए भिन्न रास्ता चुना।

जब द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू हुआ, तब उन्होंने इसे भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए एक अच्छे अवसर के रूप में देखा। उनका मानना था कि इस समय ब्रिटिश सरकार को देश छोड़ने के लिए बाध्य किया जा सकता है, लेकिन गांधी जी ने उनके विचारों का समर्थन नहीं किया।

सन् 1940 में भारतीय सुरक्षा अधिनियम के अंतर्गत सुभाष चन्द्र बोस को गिरफ्तार कर लिया गया। मार्च, 1941 में कड़ी सुरक्षा व्यवस्था के बावजूद वे छिपकर भाग निकले और पेशावर होते हुए सोवियत संघ

जा पहुँचे। वहाँ से वे जर्मनी चले गए। उस समय जर्मनी और ब्रिटेन में युद्ध चल रहा था। जापान जर्मनी के पक्ष में था। ऐसी स्थिति में सुभाषचन्द्र बोस ने यह निर्णय लिया कि जापान के साथ मिलकर ब्रिटिश शासन के विरुद्ध एक सशस्त्र संघर्ष छेड़ा जाए। फलस्वरूप सन् 1943 में वे जापान पहुँचे। भारत की स्वतंत्रता के लिए एक सैनिक अभियान चलाने के उद्देश्य से उन्होंने सिंगापुर में 'आज़ाद हिन्द फौज' की स्थापना की। अंग्रेज़ी में इसे 'आई.एन.ए.' कहा गया। इसके सैनिक सुभाष चन्द्र बोस को 'नेता जी' के नाम से पुकारते थे। नेता जी ने अपने अनुयायियों को 'जय हिन्द' का नारा दिया।

सुभाषचन्द्र बोस ने सिंगापुर में 21 अक्टूबर, 1943 को स्वतंत्र भारत की सरकार बनाई। इस सरकार के द्वारा उन्होंने ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। जर्मनी, जापान तथा उनके समर्थक देशों ने सुभाष चन्द्र बोस की सरकार को मान्यता भी दे दी।

इसके बाद सुभाष चन्द्र बोस ने आज़ाद हिन्द फौज के मुख्यालय रंगून और सिंगापुर में बनाकर उसे पुनर्गठित करना शुरू किया। उन्होंने रानी झाँसी रेजीमेन्ट के नाम से महिला सैनिकों का एक दल बनाया। सन् 1944 को उन्होंने आज़ाद हिन्द रेडियो पर बोलते हुए घोषणा की कि "भारत की स्वतंत्रता का अंतिम युद्ध शुरू हो चुका है।"

आज़ाद हिन्द फौज की एक बटालियन इम्फाल के आक्रमण में भाग लेने के लिए भेजी गई। इसमें उसे जापानी फौजों के साथ मिलकर युद्ध करना था। दुर्भाग्य से इम्फाल का आक्रमण विफल रहा और जापानी सैनिक लौटने लगे। ऐसी स्थिति में यह आशा नहीं रह गई कि आज़ाद हिन्द फौज भारत को आज़ाद करा सकती है। सन् 1945 तक जापान द्वितीय विश्वयुद्ध में पराजित हो चुका था। उसने मित्रराष्ट्रों के सामने आत्मसमर्पण कर दिया था। ऐसी स्थिति में आज़ाद हिन्द फौज असहाय हो गई। सुभाष चन्द्र बोस टोकियो जाते समय एक विमान दुर्घटना में मारे गए। आज़ाद हिन्द फौज के सैनिक युद्ध-बंदी के रूप में भारत लाए गए और उन पर मुकदमा चलाया गया।

भले ही आज़ाद हिन्द फौज देश को स्वतंत्र नहीं करा सकी, किन्तु भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में उसकी ऐतिहासिक भूमिका रही। भारत ने पहली बार स्वयं को ब्रिटिश हुकूमत से मुक्त कराने के लिए अन्य यूरोपीय राष्ट्रों के साथ समझौता किया था। ब्रिटिश सरकार के लिए यह चौंकाने वाला तथ्य था। इसका दूसरा और महत्वपूर्ण योगदान यह रहा कि आज़ाद हिन्द फौज के बंदियों पर भारत में मुकदमा चलाया गया। जैसे ही इस मुकदमे की शुरुआत हुई, इन बंदियों के पक्ष में भारत में एक बार फिर से जन-आंदोलन उठ खड़ा हुआ। इसी कारण सैनिक अदालत के निर्णय के विरुद्ध सरकार को इन बंदियों को मुक्त करना पड़ा। यह एक बार फिर से भारतीय आंदोलन की विजय का प्रतीक था।

## विश्वयुद्ध के बाद

सन् 1942 के आंदोलन में जिन नेताओं को बंदी बनाया गया था, वे सब सन् 1945 के मध्य तक छोड़ दिए गए। जेल से बाहर आते समय वे सोच रहे थे कि जनता का मनोबल टूटा हुआ मिलेगा, लेकिन वस्तुस्थिति इसके ठीक विपरीत थी। इस बीच जनता में ब्रिटिश-विरोधी भावना बहुत सुदृढ़ हो गई थी।

युद्ध के बाद ब्रिटेन में लेबर पार्टी सत्ता में आ गई थी। वह चाहती थी कि भारत की समस्या का समाधान जल्दी से जल्दी हो। इसलिए उसने काँग्रेस पर से प्रतिबंध हटा दिया और चुनावों की घोषणा की। इससे भारतीय जनता में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई।

चुनाव-प्रचार के दौरान काँग्रेस ने तीन मुख्य मुद्दे उठाए। पहला, सन् 1942 के आंदोलन को कुचलने में सरकार की निर्ममता का प्रचार किया। दूसरा, आज़ाद हिन्द फौज के युद्ध-बंदियों के खिलाफ चल रहे मुकदमों का प्रचार किया तथा तीसरे, शहीदों की गौरव-गाथा का गान किया। उनकी स्मृति में स्मारक बनाए गए तथा पीड़ितों को राहत के लिए

धन इकट्ठा किया गया।

इन प्रचारों के कारण भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के प्रति जनता की निष्ठा और अधिक बढ़ गई। साथ ही उनकी ब्रिटिश-विरोधी भावनाएँ और अधिक तीव्र हो गईं। अब यह सिद्ध हो चुका था कि भारत अपने से संबंधित मामले स्वयं निपटा सकता है, इसलिए अंग्रेज़ों को भारत छोड़कर चले जाना चाहिए।

## तीन विद्रोह

सन् 1945-46 में पूरे देश में राष्ट्रवादी भावनाएँ मौजूद थीं। इसका प्रमाण इस दौरान घटीं विद्रोह की तीन घटनाओं से मिलता है।

पहला विद्रोह आज़ाद हिन्द फौज के मुकदमों को लेकर सन् 1945 में कलकत्ता में ही हुआ। दूसरा सबसे प्रमुख और ऐतिहासिक विद्रोह 18 फरवरी, 1946 को बम्बई में तब हुआ था जब रॉयल इंडियन नेवी के नाविकों ने हड़ताल कर दी थी।

रॉयल इंडियन नेवी के विद्रोह की शुरुआत तब हुई, जब बम्बई के ग्यारह-सौ नाविकों ने नस्लवादी भेदभाव और अखाद्य भोजन दिए जाने के विरुद्ध हड़ताल कर दी। उनकी यह भी माँग थी कि नाविक बी.सी. दत्त को जहाज़ की दीवारों पर 'भारत छोड़ो' लिखने के आरोप में गिरफ्तार क्यों किया गया।

तीसरा विद्रोह कलकत्ता में 11 फरवरी, 1946 को हुआ। सरकार ने आज़ाद हिन्द फौज के कप्तान अब्दुल रशीद को सात वर्ष की कैद की सज़ा सुनाई। इसके विरोध में जुलूस निकाले गये और पुलिस के साथ मुठभेड़ें हुईं।

ये तीनों विद्रोह धीरे-धीरे देशभर में फैलने लगे। इन्हें लोगों का समर्थन मिलने लगा। कलकत्ता और बम्बई जैसे बड़े शहरों का कामकाज ठप्प हो गया। पूरे देश ने एक बार फिर से अद्भुत एकजुटता का परिचय दिया।

भले ही यह विद्रोह अल्प-कालिक सिद्ध हुआ, किन्तु इसने एक बार फिर से ब्रिटिश सत्ता के शरीर में सुरसुरी पैदा कर दी। सरकार ने विद्रोह को कुचलने के लिए एक बार फिर से दमन नीति अपनाई, किन्तु

उसे पूरी तरह सफलता नहीं मिल सकी। ऐसी स्थिति में ब्रिटिश सरकार ने 19 फरवरी, 1946 को इस बात की घोषणा की कि भारत में कैबिनेट मिशन भेजा जाएगा जो राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की बात करेगा। मिशन का उद्देश्य शक्ति के हस्तांतरण की कार्यप्रणाली का प्रबंध करना भी था।

ജ്ഞ

# 14 आज़ादी की शहनाई

अध्याय

सन् 1944 से ही भारतीय नेताओं को यह लगने लगा था कि अब भारत की स्वतंत्रता नज़दीक है, लेकिन उस स्वतंत्रता का स्वरूप कैसा होगा और वह कब प्राप्त होगी, इस बारे में कोई भी स्पष्ट नहीं था। फिर भी इस स्वतंत्रता को ठोस रूप देने के लिए अपने-अपने स्तर पर हर कोई प्रयास कर रहा था।

स्वतंत्रता के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा थी भारत की साम्प्रदायिक स्थिति। सन् 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना के बाद से ही भारत में साम्प्रदायिकता की नींव पड़ चुकी थी। बाद में भी ऐसी स्थितियाँ बनती रहीं कि उस नींव पर साम्प्रदायिकता की दीवारें खड़ी होती चली गईं और जब आज़ादी का अंतिम दशक प्रारंभ हुआ, तब तो मानो उस पर छत ही पड़ गई। सन् 1942 में क्रिप्स मिशन के समय ही मुस्लिम-बहुल प्रान्तों की स्वायत्तता स्वीकार कर ली गई थी और दो वर्ष बाद सन् 1944 में जिन्ना से बातचीत करते हुए गांधी जी ने मुस्लिम-बहुल प्रान्तों के आत्म-निर्णय का अधिकार भी मान लिया था। काँग्रेस ने सन् 1946 में कैबिनेट मिशन के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर इस संभावना को और भी बढ़ा दिया कि मुस्लिम-बहुल प्रान्त अपनी अलग संविधान-सभा बना सकते हैं। साथ ही आधिकारिक तौर पर काँग्रेस ने देश के विभाजन की बात उस समय स्वीकार कर ली, जब काँग्रेस की कार्यसमिति द्वारा यह प्रस्ताव पारित किया गया कि यदि देश का बँटवारा होता है, तो पंजाब का भी बँटवारा होना चाहिए।

अब जबकि देश आज़ादी की दहलीज़ पर पहुँच चुका था, साम्प्रदायिक समस्या को सुलझाने के लिए कुछ प्रयास किए गए। राजगोपालाचारी ने सन् 1944 में एक फॉर्मूला प्रस्तुत किया, जिसकी मुख्य बात यह थी कि एक आयोग बनाया जाए तथा मुस्लिम-बहुल क्षेत्रों में जनमत द्वारा यह निर्णय लिया जाए कि वे लोग भारत से अलग होना चाहते हैं या नहीं। यह फॉर्मूला अर्थहीन सिद्ध हुआ।

साम्प्रदायिक समस्या को सुलझाने के लिए इसी वर्ष गांधी और जिन्ना में बातचीत हुई, लेकिन कोई समझौता नहीं हुआ। जिन्ना जहाँ देश का बँटवारा स्वतंत्रता से पहले चाहते थे, वहीं गांधी जी स्वतंत्रता के बाद। जिन्ना मुस्लिमों को एक अलग जाति मानते थे, जो गांधी जी को स्वीकार नहीं था।

गांधी-जिन्ना वार्ता विफल रही, लेकिन इसने जिन्ना के महत्व को अचानक काफी बढ़ा दिया। साथ ही इस दौरान देश के विभाजन की चर्चा इतनी अधिक हुई कि यह लगने लगा कि पाकिस्तान बनकर रहेगा।

## शिमला कॉन्फ्रेंस

अब तक द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हो चुका था। गाँधी जी ने देश की साम्प्रदायिक समस्या के समाधान के लिए शिमला में 25 जून, 1945 को एक सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में यह प्रस्ताव रखा गया कि वायसराय की कार्यकारिणी-परिषद् में उन्हें और प्रधान सेनापति को छोड़कर शेष सभी सदस्य भारतीय होंगे। इसमें मुसलमानों और हिन्दुओं का अनुपात बराबर रहेगा। लेकिन यह समझौता-वार्ता भी जिन्ना के दुराग्रह के कारण टूट गई। जिन्ना की यह माँग थी कि परिषद् के सारे मुस्लिम सदस्य मुस्लिम लीग से ही मनोनीत होंगे। इसे स्वीकार करना कठिन था, क्योंकि ऐसा नहीं था कि मुस्लिम लीग भारत के सम्पूर्ण मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था हो।

## कैबिनेट मिशन

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के साथ ही भारत में ब्रिटिश राज का आखिरी

दौर शुरू हो चुका था। हालाँकि ब्रिटिश हिटलर के विरुद्ध युद्ध जीत गए थे, लेकिन भारतीय मोर्चे पर वे पराजित हुए। 'भारत छोड़ो आंदोलन' के कारण सेना और नौकरशाही के लोगों ने खुलेआम काँग्रेस की सभाओं में जाना शुरू कर दिया था। अब ब्रिटिश सरकार का आधार केवल कुछ ज़मींदारों, उच्च वर्गों तथा सरकार-प्रशस्त लोगों तक ही सीमित रह गया था। भारतीय प्रशासन की 'स्टील फ्रेम' कही जाने वाली सेवा 'इंडियन सिविल सर्विस' में भारतीयों की संख्या बढ़ चुकी थी। द्वितीय विश्वयुद्ध में ब्रिटेन के लोग छह वर्षों के अंदर इतने थक चुके थे कि उनका उत्साह मंद हो गया था। विश्व-मंदी के कारण उन्हें आर्थिक चिन्ताएँ भी होने लगी थीं। ऐसी स्थिति में अंग्रेज़ सरकार के सामने एक भी विकल्प नहीं बचा था। सन् 1942 के क्रिप्स प्रस्ताव में उन्होंने दोहरे डोमिनियन की बात कही थी। अब पूर्ण स्वराज के सिवाय उनके पास देने के लिए रह ही क्या गया था। ब्रिटिश सरकार यह समझ गई थी कि अपने पुराने रंग-ढंग के आधार पर वह भारत में अपनी सत्ता को अधिक समय तक कायम नहीं रख सकेगी। इसलिए अब ब्रिटिश सरकार की नीति यही हो गई थी कि भारत को सत्ता का हस्तांतरण कर दिया जाए। अत: उनके सामने अब दो मुख्य मसले थे- पहला यह कि सत्ता के हस्तांतरण का स्वरूप क्या हो तथा दूसरा यह कि स्वतंत्रता के बाद भारत और ब्रिटेन के संबंध कैसे रहेंगे। इन्हीं मसलों को सुलझाने के लिए मार्च, 1946 में भारत में कैबिनेट मिशन भेजा गया।

कैबिनेट मिशन ने भारत पहुँचते ही लीग और काँग्रेस के नेताओं से बातचीत की। मिशन ने दो स्तरों वाली संघीय योजना रखी, जिससे आशा की जाती थी कि वह अधिकतम क्षेत्रीय स्वायत्तता के साथ-साथ राष्ट्रीय एकता को भी बनाए रखेगी। इसमें प्रान्तों तथा देशी राज्यों का एक संघ बनाने की बात भी कही गई। हालाँकि प्रान्तों को पूर्ण स्वायत्तता दी गई थी, लेकिन प्रतिरक्षा, विदेश और संचार पर केन्द्र सरकार का नियंत्रण था। इस मिशन को मूल रूप से संविधान-सभा का गठन करना था और यह व्यवस्था की गई थी कि संविधान के अस्तित्व में आते ही अंग्रेज़ों का प्रभुत्व समाप्त हो जाएगा।

काँग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों ने कैबिनेट मिशन योजना को स्वीकार कर लिया। लेकिन तब एक बार फिर से गतिरोध पैदा हो गया, जब अंतरिम सरकार के गठन की बात आयी। इस अंतरिम सरकार को स्वतंत्र भारत का संविधान बनाने के लिए एक संविधान-सभा बुलानी थी। कैबिनेट मिशन की जिस योजना पर पहले दोनों पक्ष सहमत हो गए थे, अब दोनों ही पक्ष उसकी भिन्न-भिन्न व्याख्या करने लगे। किसी प्रकार अन्ततः सितम्बर, 1946 में जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में काँग्रेस ने अंतरिम मंत्रिमण्डल बनाया। मुस्लिमों को इससे घोर निराशा हुई और इसकी प्रतिक्रिया में मुस्लिम लीग ने 16 अगस्त, 1946 को 'सीधी कार्रवाई' के दिन के रूप में मनाया, लेकिन बाद में अक्टूबर में मुस्लिम लीग ने मंत्रिमण्डल में शामिल होना स्वीकार कर लिया। किन्तु तब भी उसने संविधान-सभा का बहिष्कार ही किया।

इस बीच ब्रिटेन के प्रधानमंत्री क्लीमेन्ट एटली ने 20 फरवरी, 1947 को नीति संबंधी एक महत्वपूर्ण घोषणा की। प्रधानमंत्री क्लीमेन्ट ने कहा कि अंग्रेज़ जून, 1948 तक भारत छोड़ देंगे और यदि लीग संविधान-सभा का बहिष्कार करना जारी रखेगी तो हमें यह सोचना होगा कि प्रभुसत्ता निश्चित तिथि तक किसको सौंपी जाए।

जैसे ही इस बात की घोषणा हुई कि अब स्वतंत्रता प्राप्त होने वाली है, वैसे ही अगस्त, 1946 से देश में व्यापक रूप से साम्प्रदायिक दंगे शुरू हो गए। हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदायवादियों ने जमकर एक-दूसरे की हत्याएँ कीं और इसके लिए एक-दूसरे को दोषी ठहराया। मानवीय भावनाएँ इस समय खत्म हो चुकी थीं। ऐसा लग रहा था, मानो दोनों सम्प्रदाय के लोग एक-दूसरे के रक्त के प्यासे हो गए हैं। यहाँ तक कि महिलाओं तक पर अत्याचार करने में उन लोगों ने कोई नरमी नहीं दिखाई। यह देखकर महात्मा गांधी अत्यन्त निराश हो उठे। उन्होंने दंगा रोकने के लिए पूर्वी बंगाल और बिहार की पद-यात्राएँ कीं। दोनों सम्प्रदाय के कुछ लोगों ने गांधी जी का साथ दिया, लेकिन लोगों के अंदर एक-दूसरे के प्रति घृणा के बीज इतने गहरे पड़ चुके थे कि दंगे थोड़े समय के लिए कम तो

ज़रूर हो जाते थे, लेकिन समाप्त नहीं होते थे। ये दंगे तब तक चलते रहे, जब तक कि अंग्रेज़ों द्वारा शासित भारत दो देशों के रूप में विभाजित नहीं हो गया।

## लॉर्ड माउंटबेटन

ब्रिटेन के प्रधानमंत्री क्लीमेन्ट ने जून, 1948 तक अंग्रेज़ों के भारत छोड़ने की घोषणा के तुरन्त बाद ही यह भी घोषणा की कि लॉर्ड माउंटबेटन भारत के गवर्नर जनरल बनाए जा रहे हैं। माउंटबेटन ने भारतीय नेताओं से बातचीत की। इस बातचीत के बाद उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि भारत को तब तक स्वतंत्र नहीं किया जा सकेगा, जब तक कि इसका विभाजन न किया जाए। इस बारे में विचार-विमर्श करने के लिए वे एक बार फिर से इंग्लैण्ड गए और ब्रिटिश सरकार के सामने देश के विभाजन की योजना प्रस्तुत की। अपनी सरकार की सहमति प्राप्त करके लॉर्ड मउंटबेटन ने भारतीय नेताओं के सामने यह योजना पेश की कि हिन्दुस्तान को भारत संघ और पाकिस्तान में विभाजित किया जाएगा। जो लोग संविधान सभा द्वारा तैयार किए गए संविधान को नहीं मानेंगे, उसे वहाँ लागू नहीं किया जाएगा। उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्तों और असम के कुछ जिलों में जनमत कराकर यह निर्णय किया जाएगा कि वे किस के साथ रहना चाहते हैं। देशी रियासतों को यह स्वतंत्रता दी गई कि वे अपनी इच्छानुसार भारत या पाकिस्तान में मिल सकते हैं और यदि चाहें, तो इन दोनों से अलग भी रह सकते हैं।

भारतीय नेताओं के सामने लॉर्ड माउंटबेटन योजना के अनुसार भारत की स्वतंत्रता-प्राप्ति मजबूरी-सी हो गई थी। काँग्रेसी नेता भी यह महसूस करने लगे थे कि देश का विभाजन अपरिहार्य है। इसे सन् 1946 के चुनावों ने और अधिक स्पष्ट कर दिया था। इन चुनावों में मुस्लिम लीग को 90 प्रतिशत मुस्लिम सीटें प्राप्त हुई थीं। फिर अब तक साम्प्रदायिक दंगे भी उस सीमा तक बढ़ चुके थे कि काँग्रेस के नेता यह महसूस करने लगे थे कि इन दंगों को विभाजन के द्वारा ही रोका जा सकता है।

अंततः 3 जून, 1947 को यह घोषणा की गई कि भारत और पाकिस्तान स्वतंत्र हो जाएँगे।

## एकीकरण

लॉर्ड माउंटबेटन योजना के अंतर्गत देशी राज्यों को यह छूट दी गई थी कि वे अपनी इच्छानुसार भारत या पाकिस्तान, किसी में भी शामिल हो सकते हैं और यदि वे चाहें, तो अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी बनाए रख सकते हैं। वस्तुत: अंग्रेज़ सरकार की यह नीति भारत को कई भागों में खण्डित करने की थी, लेकिन तत्कालीन गृहमंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल की दृढ़ता और कूटनीति के चलते अधिकांश देशी रियासतें भारत में शामिल हो गईं। हालाँकि कुछ रियासतें ऐसी थीं, जिन्होंने समस्याएँ खड़ी कीं।

जूनागढ़ (गुजरात) काठियावाड़ के पास समुद्र के तट पर स्थित एक छोटा-सा राज्य था। हालाँकि वहाँ की जनता तो भारत में मिलना चाहती थी, लेकिन वहाँ के मुस्लिम नवाब ने पाकिस्तान में मिलने की घोषणा की। अंत में भारतीय सैनिकों ने उस राज्य पर कब्ज़ा कर लिया और वहाँ जनमत-संग्रह कराया गया। लोगों ने भारत के साथ रहने के पक्ष में अपना फैसला दिया।

हैदराबाद के निजाम ने तो पूरी तरह स्वतंत्र रहने की ही घोषणा की थी, लेकिन उसी समय तेलंगाना क्षेत्र में एक आंतरिक विद्रोह शुरू हो गया। उसे दबाने के लिए भारतीय सैनिकों को हैदराबाद में प्रवेश करना पड़ा। अंत में सन् 1948 में निज़ाम को भारत में शामिल होने के लिए मजबूर होना पड़ा।

कश्मीर के महाराज भी आरंभ में इस द्वन्द्व में थे कि वे भारत में शामिल हों या पाकिस्तान में। वहाँ की जनता भारत में शामिल होना चाहती थी। जब कश्मीर पर पठानों तथा पाकिस्तान की पलटनों ने हमला किया, तो कश्मीर के शासक को भारत से सैनिक सहायता लेनी पड़ी और अंत में अक्टूबर, 1948 में वह भारत में शामिल हुआ।

## आधी रात को आज़ादी

लॉर्ड माउंटबेटन ने भारत की स्थितियों को देखने के बाद यह घोषणा की थी कि भारत को 15 अगस्त, 1947 को आज़ाद कर दिया जाएगा। यह

अवधि ब्रिटिश प्रधानमंत्री क्लीमेन्ट के द्वारा घोषित अवधि से 9 महीने पूर्व थी। लॉर्ड माउंटबेटन की योजना के अनुसार सरकार ने काम करना शुरू किया। देश के विभाजन की औपचारिकताएँ पूरी की गईं और 14 अगस्त को आधी रात का घण्टा बजते ही लाल किले पर यूनियन जैक के स्थान पर भारत का तिरंगा झण्डा फहरा उठा। इस प्रकार उस समय जबकि सारी दुनिया सोई हुई थी, भारत एक नई आशा और विश्वास के साथ जाग उठा था। उस समय 14 अगस्त की रात को संविधान सभा को संबोधित करते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने अपनी कवित्वपूर्ण शैली में कहा था–

''वर्षों पहले हमने किस्मत के साथ बाज़ी लगाई थी और अब समय आ गया है कि हम अपनी प्रतिज्ञा को पूरी तरह न सही, काफी हद तक पूरा करें। मध्यरात्रि में जब सारी दुनिया सो रही होगी, भारत नया जीवन और स्वतंत्रता लेकर जागेगा। कोई एक क्षण, जो इतिहास में बिरले ही आता है, ऐसा होता है जब हम पुरातन से नूतन की ओर जाते हैं, जब एक युग समाप्त हो जाता है और तब किसी राष्ट्र की बहुत दिनों से दबी आत्मा को वाणी मिल जाती है। यह उपयुक्त है कि हम इस पवित्र क्षण में भारत तथा उसकी जनता की सेवा, और उससे भी अधिक बड़े, मानवता के उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने आपको अर्पित करें... आज हम एक दुर्भाग्यपूर्ण अवधि को समाप्त कर रहे हैं और भारत को अपने महत्व का फिर एक बार अहसास हो रहा है। आज हम जिस उपलब्धि को मना रहे हैं, वह निरन्तर प्रयास की उपलब्धि है, जिसके परिणामस्वरूप हम उन प्रतिज्ञाओं को पूरा कर सकेंगे, जिन्हें हमने कई–कई बार लिया है।''

इस प्रकार करीब 90 वर्षों का यह स्वतंत्रता–संघर्ष पूरा हुआ और देश ने आज़ादी की हवा में साँस ली। न जाने कितनी कुर्बानियों, यातनाओं और संघर्ष के बाद भारत स्वयं का भाग्यविधाता बन सका।

ꕥ

ऑर्डर करने के लिए : www.bentenbooks.com

# लेखक की अन्य पुस्तकें

'आनन्द की प्यालियाँ'
खुशहाल जीवन के 57 मंत्र
मूल्य, रु. 145/-

'सही निर्णय कैसे लें'
सीखिए सही निर्णय लेकर सफल होने की कला
मूल्य, रु. 175/-

'सदा सफल हनुमान'
हनुमानजी से सीखें सफलता और मैनेजमेंट के सूत्र।
मूल्य, रु. 150/-

'मन को जीतो दुनिया जीतो'
अपने अंदर छुपी शक्तियों को पहचानने और सफल होने के नुस्खे
मूल्य, रु. 175/-

'समय आपकी मुट्ठी में'
समय को साधने के गुर सिखाने वाली एक अद्भुत पुस्तक।
मूल्य, रु. 195/-

ई–मेल करें : bentenbooks@gmail.com

यह पुस्तकें किताब–दुकान में न मिलने पर संपर्क करें– फोन– 0755–4245626

# लेखक की अन्य पुस्तकें

यह पुस्तक पढ़ने की कला को बहुत ही खूबसूरत, प्रभावशाली, व्यावहारिक और रोचक अंदाज में बताती है। इन्हें उपयोग में लाकर स्टूडेंट्स पढ़ने, उस पर सोचने और उसे लम्बे समय तक याद रखने की अपनी क्षमता को बढ़ा सकते हैं। यह किताब बताती है कि किस प्रकार विषय के मूल को समझकर अपने अध्ययन को इंट्रिस्टिंग बनाया जा सकता है। इनमें वे व्यावहारिक और वैज्ञानिक तरीके हैं, जिसके आधार पर स्टूडेंट बहुत बेहतर सफलता पा सकते हैं।

₹145/-

यदि स्टूडेंट अपने समय को मैनेज करना सीख लेते हैं, तो निःसंदेह रूप से वे सभी क्षेत्रों में एक्सेल करेंगे। इस पुस्तक में टाइम को मैनेज करने के प्रभावशाली, वैज्ञानिक और व्यावहारिक तरीके बड़े विस्तार के साथ बताये गये हैं। इससे वे न केवल अपनी पढ़ाई में अच्छा कर सकेंगे, बल्कि उन्हें मनोरंजन करने के अलावा अन्य किताबें पढ़ने तथा अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिये भी ढेर सारा समय मिल जायेगा।
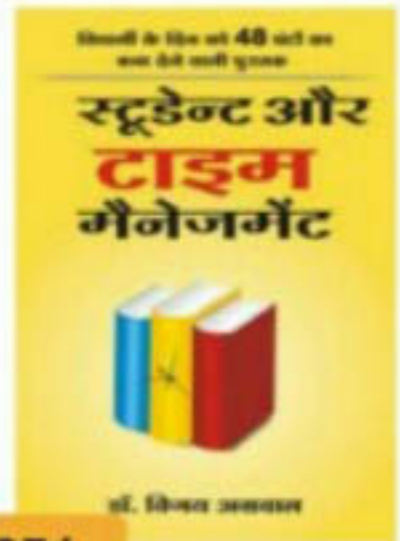
₹135/-

एक कहावत है कि "मन के साधे सब सधे"। मन हमारे पास मौजूद सर्वोत्तम उपकरण है। यदि एक बार मन को जीत लिया गया, तो कुछ भी जीता जा सकता है। यह पुस्तक विद्यार्थियों को बताती है कि कैसे अपने मन की ताकत को ढूँढा जाये, और कैसे उसका सही तरीके से उपयोग करके जीवन के हर क्षेत्र में सफल हुआ जाये।

₹135/-

इस किताब में स्टूडेंट से जुड़ी हुई उन बातों को बताया गया है, जो एक विद्यार्थी के प्रभावशाली व्यक्तित्व के लिए जरूरी हैं। स्टूडेंट्स को इस पुस्तक में बॉडी लैंग्वेज, कम्युनिकेशन स्किल्स, मैनर्स और ड्रेसिंग आदि के बारे में भी जानने को मिलेगा। यह किताब एक साधारण स्टूडेंट और असाधारण स्टूडेंट के बीच के फासले को खत्म कर देगी। यह किताब उन विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है, जो जीवन और कैरियर की दौड़ में सबसे आगे रहने की चाहत रखते हैं।

₹145/-